# सौन्दर्यानुभूति

विश्वनाथ प्रसाद

सुन्दर वह है जो हमारे मानस पर सुखकर प्रभाव डाल कर उसे सरस बना देता है। कुछ लोगो के अनुसार सौन्दर्य वस्तु में होता है, कुछ लोगो के अनुसार ग्रहीता के मानस मे होता है और कुछ लोग इन दोनों मे सौन्दर्य की उपस्थिति मानते हैं। यह सौन्दर्यानुभूति ही कला को जन्म देती है। इसलिये साहित्य और विभिन्न कलाओ के विवेचन का आधार सौन्दर्यानुभूति ही है। इस पुस्तक मे सौन्दर्य की विभिन्न अवधारणओ के साथ ही सौन्दर्य तथा सौन्दर्यानुभूति को समझने के लिये सौन्दर्य और कुरूपता, सौन्दर्य और औदात्य, सौन्दर्य और कोमलता, सौन्दर्य और उपयोगिता, वस्तुगत सौन्दर्य, अनुभूतिगत सौन्दर्य, अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य, मानव सौन्दर्य, मानव के शील मे विद्यमान सौन्दर्य आदि का विवेचन लेखक ने किया है।

भारतीय रस सिद्धान्त का भी मुख्य आधार सौन्दर्यानुभूति ही है। लेकिन यह कहना उचित नही है कि सौन्दर्यानुभूति के आनन्द से भिन्न रसास्वाद का अर्थ कुछ भी नही है। चित्त को आह्लादित तथा द्रवीभूत करने की शक्ति सौन्दर्यानुभूति तथा रसानुभूति दोनो में होती है। किन्तु रसानुभूति मे जिस भाव तादात्म्य का अनुभव होता है, वहाँ तक सौन्दर्यानुभूति की गति नही है। वह तादात्म्य की अनुभूति के पूर्व चमत्कार के स्फोट की अवस्था है। फिर भी सौन्दर्यानुभूति का क्षेत्र रसानुभूति से अधिक विस्तृत है। वह उपयोगितावाद को भी अपने मे समेट लेता है।

# सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

अनामिका प्रकाशन
१८५, नया बैरहना, इलाहाबाद-२११ ००३

अनामिका प्रकाशन
१८५, नया बैरहना, इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

●

प्रथम संस्करण : १९८९

●



●

पियरलेस प्रिन्टर्स
१, बाई का बाग, इलाहाबाद
द्वारा मुद्रित

मूल्य : रु० ५०.००

# तब और अब

लगभग बीस वर्ष पहले शोध करते समय सौन्दर्य के सम्बन्ध मे काफी अध्ययन करके एक अवधारणा विकसित की थी। इसके बाद भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का निरन्तर अध्ययन करता रहा। भारतीय काव्य-शास्त्र के सभी सम्प्रदायो ने काव्य के 'जीवित' को ढूंढने का भरपूर प्रयास किया है। लेकिन इनमे रस-सिद्धान्त आज भी किसी न किसी रूप में प्रासं-गिक है। इसी प्रकार से आई० ए० रिचर्ड्स का सम्प्रेषणीयता तथा मूल्य-निर्धारण का सिद्धान्त भी अपनी सार्थकता रखता है। सम्प्रेषणीयता का सम्बन्ध रस-सिद्धान्त से है। भारतीय काव्यशास्त्र के किसी सम्प्रदाय ने सीधे जीवन-मूल्य को काव्य का 'जीवित' नही कहा है। मेरी धारणा आज भी है कि काव्य का पहला लक्ष्य जीवन-मूल्य का निर्धारण नही होता है। कवि अपनी सवेदना को दूसरो तक पहुँचाने की प्रक्रिया मे काव्य के अनेक उपकरणो का सहारा लेता है। इसलिये कविता का पहला लक्ष्य होता है कवितापन। इस कवितापन की अवधारणा पर मतभेद हो सकता है, लेकिन इस पर मतभेद नहीं हो सकता कि पहले कविता को कविता अथवा साहित्य को साहित्य होना चाहिये। इसके बाद मूल्य का प्रश्न उठता है। मूल्यों मे भी रचनाकार चुनाव करने के लिये स्वतन्त्र होता है, लेकिन सामान्यजन का विरोध करनेवाला कोई भी मूल्य महत्वपूर्ण नहीं हो सकता है।

मैं आज केवल सौन्दर्य को कविता या साहित्य का लक्ष्य नही मानता हूँ। मैं कुछ संशोधन के साथ मार्क्स के मूल्य को स्वीकार करने लगा हूँ। इस प्रक्रिया मे आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० राममनोहर लोहिया आदि के कुछ निकट अपने को पाता हूँ लेकिन भारतीय काव्यशास्त्रियों मे कुछ के विचारों को नितान्त अप्रासंगिक भी नही मान पा रहा हूँ। बहरहाल आज जो मेरे विचार है वे अलग हैं। सौन्दय और के में मैंने बहुत पहले जो

सोचा-समझा था, उसे अपने अनुज डॉ० देवीप्रसाद कुंवर के अतिशय आग्रह के कारण प्रकाशित करा दे रहा हूँ। बेटी सुषमा प्रियदर्शिनी तथा जामाता आनन्द प्रकाश जी भी इसे प्रकाशित देखने के लिये उत्सुक है। इन तीनों की श्रद्धा मेरा सम्बल है। अनामिका प्रकाशन की स्वत्वाधिकारी श्रीमती गीता शुक्ला नेइसे बड़ी रुचि से प्रकाशित किया है, इसके लिये मैंउनका आभारी हूँ।

**विश्वनाथ प्रसाद**
अध्यक्ष
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
तथा
अधिष्ठाता
कला एवं वाणिज्य संकाय
उदय प्रताप कालेज, वाराणसी

## क्रम

डाल
सौन
मान
ही
जन्म
विवे
मौन
सौन
सौन
उपर
व्या
विद

नुभू
सौन
भी
शारि
किन
है।
की
फिर
विस
लेत

## सौन्दर्य की अवधारणा

अंग्रेजी का 'एस्थेटिक' यूनानी 'एस्थेसिस' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'इन्द्रियानुभव।' एस्थेटिक शब्द यूनान में ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व से ही व्यवहृत होने लगा था। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मन तत्ववेत्ता वामगार्टन ने इस शब्द को आधुनिक अर्थ दिया। तभी से एस्थेटिक का अर्थ 'सौन्दर्य का दर्शन' प्रचलित हुआ। श्रोता अथवा दर्शक को काव्यगत अथवा कलागत जो अनुभूति प्राप्त होती है, पाश्चात्य विचारक उसी को एस्थेटिक्स कहते हैं। इसी 'एस्थेटिक्स' को हिन्दी में सौन्दर्य-बोध का पर्याय समझना चाहिए।

## अर्थ और स्थिति

'सुन्दर' शब्द में 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ने से 'सौन्दर्य' शब्द की उत्पत्ति बताई गई है। यों सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विविध मत हैं। कुछ व्युत्पत्तियों में इसके आन्तरिक प्रभाव की ओर संकेत हैं तो कुछ में बाह्य प्रभाव की ओर। 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द्' धातु में 'अरन्' प्रत्यय मिलने से यदि 'सुन्दर' की उत्पत्ति मानी जाय तो इसका अर्थ हुआ—'सु' अर्थात् अच्छी प्रकार 'उन्द्' अर्थात् 'आर्द्र' करना और 'अरन्' कर्तृवाचक प्रत्यय। सब मिलाकर अर्थ हुआ—'अच्छी तरह गीला करना'। अन्तस्सत्ता को जो भलीभाँति आर्द्र कर दे, वस्तुतः वही सुन्दर है।

सुन्दर को 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'नन्दयति' से भी सिद्ध किया जाता है, जिसका अर्थ होगा 'जो अच्छी तरह प्रसन्न करे। ग्रहीता या दर्शक के मानस-जगत को जो भाव या वस्तु प्रसन्नता प्रदान करे, वह सुन्दर है। इस प्रकार 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उद' धातु में अरन् प्रत्यय जोड़ने से जो व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है, उसी के अनुरूप ध्वनि 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'नन्दयति' के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की भी है। हमारी अन्तःसत्ता पर सुखकर प्रभाव डालने वाली वस्तु ही सुन्दर हो सकती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अन्तःसत्ता की इस सुखकर स्थिति में अहम् का पूर्णतया लोप माना है

किसी वस्तु या ध्वनि का जब चक्षुरिन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से हमारे मानस-जगत पर सुखकर प्रभाव पडता है तो क्रमशः हमारा मानस-जगत तन्मय होने लगता है। हमारी अन्तस्सत्ता अपनी स्थिति को भूलने लगती है, उसकी तदाकार-परिणति होने लगती है। हमारी अन्तस्सत्ता की यही (वस्तुओ का भावना रूप मे परिणत हो जाना) तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।

'सुन्दराति इति सुन्दरम् तस्य भावत सौन्दर्यम्'—ऐसी व्युत्पत्ति मानने पर सौन्दर्य का व्युत्पत्तिगत अर्थ बहुत कुछ सौन्दर्य को वस्तुपरक मानने वाले सौन्दर्य-शास्त्रियो के दृष्टिकोण के अनुरूप होगा। 'सुन्द' का अर्थ है कर्तनी। कर्तनी के समान काटने वाला भाव जो लाता है वह सुदर है। किसी वस्तु के प्रभाव की वह सुखकर स्थिति जो हृदय को आर्द्र बना देती है केवल वह ही सौन्दर्यानुभूति की स्थिति नही अपितु जिस स्थिति मे हम सुन्दर और असुन्दर मे भेद कर सकें वही सौन्दर्यानुभूति की स्थिति है। 'कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती है जो हमारे मन में आते ही हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि हम उन वस्तुओ के भावना-रूप मे परिणत होते जाते है। इसके विपरीत कुछ ऐसी वस्तुएँ होती है जिनकी प्रतीति एक मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है (रस मीमासा पृ० २४)। इस स्थिति की भी श्रेणियाँ होती है। भड़भड़े के फूल की अपेक्षा गुलाब के फूल मे हमारा मन अधिक रमता है। इसलिए भड़भड़े के फूल की अपेक्षा गुलाब का फूल सुन्दरतम् है। 'सुन्दरति इति सुन्दरम् तस्य भावतः सौन्दर्यम्' के व्युत्पत्तिगत अर्थ से हम इतना ही कह सकते है कि हमारे अन्तर्जगत मे सुन्दर-असुन्दर के बीच कर्तनी की सी काँट-छाँट चलती है। ऐसा होता है क्यो ?—इसका कारण नहीं दे सकते।

'अमर कोशकार' ने सौन्दर्य के पर्याय रूप मे सुषमा, परम शोभा, कान्ति, द्युति, छवि, रुचिर, चारु, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रुच्य, मनोज्ञ, मजु, रम्य, मनोहर, सौम्य आदि शब्दो का प्रयोग किया है। लेकिन 'सौन्दर्य शास्त्र' मे सौन्दर्य जिस अर्थ को ध्वनित करता है, उसके द्योतक शब्द इनमे एक भी नही। रम्य, मनोहर, मनोरम आदि सौन्दर्यानुभूति की स्थिति बताने वाले हैं और सुषमा, कान्ति, छवि आदि सौन्दर्य के कारण हैं। सौन्दर्य अवयवी है और ये अवयव हैं।

इसी प्रकार मोनियर विलियम आप्टे आदि ने भी सौन्दर्य के पर्याय मे इन्ही शब्दों का उपयोग किया है। वैसे यह ठीक नहीं क्योंकि इनमे कुछ शब्द

उसकी स्थिति को और कुछ उसके कारण को बताने वाले हैं, पर्याय नहीं।

अब यदि इस सुन्दर शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ लें तो यही होगा कि 'सुन्दर वह है जो हमारी अन्तस्सत्ता पर सुखकर प्रभाव डालकर उसे आर्द्र कर दे।'

## सौन्दर्य की परिभाषा

यूनानी, रोमन, जर्मन, आंग्ल आदि पाश्चात्य विचारकों ने आज तक सौन्दर्य की जो विविध परिभाषाएँ निश्चित की हैं, उनके चार केन्द्र-बिन्दु हैं। कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य को अलौकिक सत्ता के आश्रित माना है और कुछ ने शिवत्व के साथ अनुबद्ध कर दिया। इसी प्रकार कुछ लोगों ने इसे आश्रयगत माना, औरों ने विभावगत। सत्य, शिव, आश्रय और विभाव ये चार ऐसे बिन्दु रहे जिनको केन्द्र मानकर सौन्दर्यशास्त्रियों के विचार अभिव्यक्त होते रहे। प्राचीन काल से ही ईश्वर का स्वरूप सत्य और सत्य को ईश्वर का अनुवर्ती माना जाता है। जो कुछ भी व्यक्त-सृष्टि है, वह ईश्वर का ही अंश है। ईश्वर अंशी है और व्यक्त जगत अंश। अंशी पूर्ण है और उसका अंश यह जगत भी पूर्ण प्रतिभासित होता है। ईश्वर पूर्ण है इससे सौन्दर्य की निधि है। इसके एक अंश से निर्मित इस जगत के पदार्थों मे भी उस विभु का सौन्दर्य प्रसरित हो गया। कुछ सौन्दर्यशास्त्री अंशी के कारण अंश मे सौन्दर्य देखते रहे और कुछ अंशी में ही सौन्दर्य की सत्ता मानते रहे। ईश्वर पूर्ण और स्वत-सिद्ध है। सत्य भी पूर्ण और स्वतः-सिद्ध है। ईश्वर और सत्य की स्थिति के लिए दूसरे की अपेक्षा नही, ये दोनों एक ही हैं। ईश्वर सत्य है और सत्य ईश्वर है, इसीलिए कुछ विचारक सत्य में सौन्दर्य देखते रहे।

•

अलौकिक सत्ता के पश्चात् इस लोक का भी प्रश्न उठता है। 'ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या' — इससे सभी तो सहमत नहीं हो सकते। अद्वैतवाद है तो द्वैतवाद भी। जिस जगत मे हम रहते है उसे कोरा असत्य मानना तो ठीक लगता नहीं। उसे सत्य नही तो सत्याभास मानकर उसकी उपयोगिता को स्वीकार करना ही पड़ता है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य का सामाजिक मूल्य निर्धारित करना चाहा। कोई वस्तु सुन्दर है बस इतने से ही इति नहीं गुलाब सुन्दर है तो उसकी उपयोगिता क्या? हम

दैनन्दिन जीवन मे प्रयुक्त होने वाली वस्तुओ को आकर्षक भी बनाना चाहते हैं। यह आकर्षण सौन्दर्य का जनक है। तरकारी का शुरुआ सुस्वादु ही नहीं, उसका रंग चक्षिवन्द्रिय और गंध घ्राणेन्द्रिय पर सुखकर प्रभाव भी डालने वाला हो, इसी से कुछ लोगों ने कहा कि शिव ही सुन्दर और सुन्दर ही शिव है।

सौन्दर्यशास्त्रियों की जहाँ ये दो विचारधाराएँ सौन्दर्य को आश्रय और आलम्बन से निरपेक्ष होकर अन्य स्थानों पर खोजती रहीं, वही कुछ लोगो ने सौन्दर्य को आश्रय, ज्ञाता या प्रमाता के मानस-जगत मे ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। हम किसी वस्तु को देखकर आकृष्ट होते है। वह हमारी अन्तरात्मा पर सुखकर प्रभाव डालती है। इस सुखात्मक संवेदन को हम सौन्दर्य और वस्तु को 'सुन्दर' कहते है। यह सुखकर संवेदन वस्तु को प्रत्यक्ष देखने, स्मृति-विधान अथवा कल्पना-सज्जा से उत्पन्न होता है। हम कमल के फूल को प्रत्यक्ष-जगत में अपने चक्षिवन्द्रिय का लक्ष्य बनायें, एकात मे बैठकर उसके स्वरूप का चिन्तन करें अथवा किसी रूपवती के मुख का उपमान बनाएँ—तीनों स्थितियो मे आनन्द प्राप्त होगा। सौन्दर्य को अभिव्यक्ति मानने वाले इसी विचारधारा के अन्तर्गत आते हैं। अभिव्यक्तिवादियो के अनुसार ज्ञान के अन्वीक्षाप्रसूत और कल्पना-प्रसूत दो प्रकार है। किसी वस्तु को हम प्रत्यक्ष देखकर ज्ञान प्राप्त करते हैं यह अन्वीक्षा-प्रसूत ज्ञान है और जब कल्पना मे लाकर ज्ञान प्राप्त करते हैं तो वह कल्पना-प्रसूत ज्ञान होता है। अन्वीक्षा-प्रसूत ज्ञान सामान्य वस्तुओं का सहारा लेकर चलता है और कल्पना-प्रसूत ज्ञान विशेष का। किसी वस्तु की अभिव्यक्ति जब हमारे अन्तर्जगत में होती है तो उसका स्वरूप सामान्य से भिन्न होता है। हमारी कल्पना-वृत्ति वस्तु के प्रत्यक्ष स्वरूप मे कुछ परिवर्तन-परिवर्धन करने के पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति करती है। सौन्दर्य की सत्ता वस्तु से नही अपितु उसकी अभिव्यक्ति में है। किन्तु इस अभिव्यक्ति मे भी स्वरूप की सत्ता सर्वथा लुप्त होती है। सौन्दर्य को विषयीपरक मानने वाली विचारधारा के ही अन्तर्गत किसी मानसिक वृत्ति के कारण सौन्दर्य की उत्पत्ति मानने वालों का भी विचार आता है। सौन्दर्य की उत्पत्ति का कारण यौन-व्यापार है, यह विचार इसी से जुडा है।

सौन्दर्य को विषयीगत न मानकर विषयगत मानने वालों की भी संख्या पर्याप्त है। अधिकांश भारतीय विद्वान सौन्दर्य को विभाव, प्रमेय या ज्ञेयाश्रित ही मानते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है 'सौन्दर्य बाहर

की वस्तु नहीं मन के भीतर की वस्तु है।"'वास्तव में यह भाषा के गड़बड़-झाले के सिवा कुछ नहीं है। सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत इन्द्रिय-गम्य है। इन्द्रियों के माध्यम से हम वस्तुओं को मानस तक उतारते हैं और फिर वही ये वस्तुएँ भावरूप में परिणत हो जाती है। वस्तु के रूप के अभाव में भाव की स्थिति के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लग सकता है। 'रूपरिझावन हार है, ये नैंना रिझवार'—नयन तो तभी आकृष्ट हो सकते हैं जब रूप हो। रीझना यदि कार्य है तो रूप कारण। कारण के अभाव में कार्य व्यापार कैसे सम्भव? कार्य है तो कारण और कारण है तो कार्य होगा ही। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इसी से वस्तु के अभाव मे सौन्दर्य की स्थिति नही। सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की कल्पना असम्भव है। सौन्दर्य यदि वस्तुगत न होता तो क्यों किसी वस्तु को देखकर आह्लाद और किसी को देखकर मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती?

अनेकता में एकता का सिद्धान्त ग्रीक-दर्शन का केन्द्रबिन्दु था। अवयवी का अवयव से सम्बन्ध एवं अनेकता में एकता की अभिव्यक्ति पर प्लेटो और अरिस्टाटिल ने बहुत बल दिया। प्लेटो के विचार मे त्रासदी अपने उन सभी क्रियाकलाप का प्रतिनिधि है जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त होते है। प्रारम्भ, मध्य और अन्त कुछ इस प्रकार नियोजित होते है कि प्रारम्भ के पश्चात् मध्य, मध्य के पश्चात् अन्त तथा अन्त के पूर्व मध्य, मध्य के पूर्व प्रारम्भ आता है। प्रारम्भ मध्य और अन्त के पूर्वापर नियोजन में सौन्दर्य है। इस प्रकार सौन्दर्य परिमाण और क्रम में होता है ताकि अवयवों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रशंसनीय हो सके। इसी प्रकार अरिस्टाटिल के अनुसार सभी प्रतिनिधि कलाओं में एक ही वस्तु का एकाकी प्रतिनिधित्व होता है। वह एकाकी ही सम्पूर्ण होता है। प्लेटो सौन्दर्य को चित्त की शुद्धि और तत्व-ज्ञान में सहायक मानते थे। उनके अनुसार 'शिवत्व' के सिद्धान्त ने सौन्दर्य के नियमों को आवेष्ठित कर लिया है। वे नैतिकता को सौन्दर्य का एक अपरिहार्य तत्व मानते थे। सुकरात सौन्दर्य को जीवन से पृथक् देखने के कायल नही थे। उनके अनुसार सौन्दर्य का जीवन मे ही स्थान है। इसी प्रकार शिव और सुन्दर भी एक है। उनके अनुसार क्रम, सुडौलता और निश्चितता मे ही सौन्दर्य है। ऐसी अवस्था में हम देखते हैं कि सुकरात और प्लेटो ने जहां एकता और शिवत्व से सौन्दर्य को सम्बद्ध किया, वही अरस्तू सौन्दर्य के वस्तुपरक दृष्टिकोण पर उतर आए। वैसे प्लेटो ने 'त्रासदी' की व्याख्या करते समय परिमाण और क्रम मे सौन्दर्य की स्थिति स्वीकार की है,

पर प्लेटो और सुकरात दोनों ने उपयोगिता तथा नैतिकता को सौन्दर्य के लिए आवश्यक बताया। अनेकता मे एकता का विधान कर देने पर सौन्दर्य की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु यह स्थिर नियम हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। रात्रि में अनेक तारे आकाश में दमदमाते हैं। कितने सुन्दर लगते हैं ? कल्पना कीजिए, सब तारे मिलकर चाँद बराबर या उससे बड़ी आकृति के बन जाँय तो क्या वही सौन्दर्य रह जायगा ? यही बात उपयोगिता और नैतिकता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सुन्दर वस्तु उपयोगी हो सकती है, परन्तु प्रत्येक उपयोगी वस्तु सुन्दर होती ही है, यह सत्य नही। इसी प्रकार नैतिकता मे भी सौन्दर्य हो सकता है, पर सभी सुन्दर वस्तुएँ नैतिक भी हो, यह स्थिर-सत्य नही। वस्तुतः प्लेटो का विचार था कि एक ही व्यापक-सत्ता की उपस्थिति प्रत्येक स्थान पर है और उसी परम-तत्व से प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य प्राप्त करती है। किन्तु जो ईश्वर मे विश्वास ही नही करते उनके लिए सौन्दर्य एक पहेली ही रह जायेगा।

शेफ्ट्सबरी सौन्दर्य को अलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार कला का कार्य इन्द्रिय-बोध से प्राप्त भाव, विचार और कल्पना के स्वरूप को मस्तिष्क के समक्ष प्रस्तुत करना है। तत्पश्चात् सौन्दर्य-बोध मे दीक्षित नयन और श्रवण, सौन्दर्य एवं सौन्दर्येतर का निर्णय करते हैं। शेफ्ट्सबरी सौन्दर्य को अलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति मानते हुए भी उसे इन्द्रिय-गम्य मानते हैं। इस प्रकार वे सौन्दर्य के वस्तुपरक दृष्टिकोण का ही समर्थन करते हैं। सौन्दर्य जब इन्द्रियबोध से प्राप्त होगा तो इसका अभिप्राय है कि वह बाह्य-जगत से उपलब्ध होगा। बाह्य-जगत मे सौन्दर्य चाहे किसी वस्तु से प्राप्त हो या कलाकृति से, विषय-गत हुआ। इस प्रकार सौन्दर्य अन्दर की नही बाहर की वस्तु हुई।

ह्यूम बुद्धि के समान सौन्दर्य की भी व्याख्या असम्भव मानते है। सौन्दर्य का निर्णय इन्द्रिय-बोध से ही सम्भव है। सौन्दर्य एक ऐसा क्रम और अवयवो की रचना है जिससे हम अपनी प्रकृति के प्रारम्भिक बनावट अथवा संस्कार के कारण आनन्द प्राप्त करते हैं। यह हमारी आत्मा को संतुष्टि देता है। सुन्दर और असुन्दर में यह भेद है कि सुन्दर आत्मा को संतुष्टि और असुन्दर पीडा प्रदान करता है। ह्यूम ने सौन्दर्य की व्याख्या नही की है, प्रत्युत उन्होंने सौन्दर्य-बोध के समय मानस की स्थिति का विवरण अवश्य प्रस्तुत किया है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि हमे सौन्दर्य-बोध अपनी प्रकृति की बनावट अथवा संस्कार के कारण होता है। प्रकृति और संस्कार ये दो ही

ऐसी वस्तुएँ है जिनका सौन्दर्य-बोध मे बहुत बडा हाथ होता है। कुछ लोग बचपन से ही प्रकृति-सम्पदा की श्री की ओर आकृष्ट रहते हैं और कुछ लोग इसी के बीच रहकर 'कमल पत्र इवाम्भसि' अछूते रहते हैं। इसी प्रकार संस्कार भी हमारी रुचि के परिवर्तन-परिवर्धन में काम करता है। 'राष्ट्रीय साहित्य', 'देशीय सौन्दर्य' आदि संस्कार के ही प्रतिफल हैं।

बामगार्टेन प्रकृति मे चरम सौन्दर्य देखते है। उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य की सृष्टि के लिए प्रकृति का अनुकरण करना आवश्यक है। उन्होंने अनुकरण सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया और अपने विचारों को इतना विस्तार दिया कि प्रकृति और जगत इन्द्रिय-बोध के माध्यम से कला के आकार में स्थान पा सके। उनके मतानुसार प्रकृति का जो अनुकरण होता है, वह पूर्ण का दैवी-प्रकाशन है। प्लेटो के समान वे कलागत अनुकरण को तुच्छ नही मानते।

शिलर महोदय सौन्दर्य को इन्द्रियो का विषय मानते है। मानस पर सौन्दर्यमयी वस्तुओं के पडे प्रतिबिम्ब से ही हमें अनुभूति होती है। इसी समय अपनी अन्तस्सत्ता का भी रसार्द्र स्थिति होती है, क्योकि अनुभूति में ही वस्तु का बोध हो सकता है। हम सौन्दर्य का मनन करते हैं इसलिए वह आकार है, साथ ही उसकी अनुभूति होती है इसलिए चेतना है। शिलर की यह व्याख्या ठीक है। सौन्दर्य वस्तु मे भी होता है और मानस मे भी। कमल के फूल मे सौन्दर्य होता है तभी वह सभी को सुन्दर लगता है। रही बात मात्रा की—वह प्रकृति और संस्कार पर निर्भर रहता है। विभाव और आश्रय सौन्दर्य-बोध के दोनों ही कारण है। जैसे विभाव से पृथक् सौन्दर्य की कल्पना नही की जा सकती, ठीक उसी प्रकार आश्रय से भी पृथक् सौन्दर्य की सत्ता नहीं। 'रूप रिझावन हार यह, वहा नैना रिझवार'—बिहारी की यह उक्ति शिलर के निकट है।

हीगेल ने सौन्दर्य को एक भाव माना है। वह चेतना को इसी रूप में दिखाई पड़ता है। भाव की अभिव्यक्ति का जो प्रयास होता है, वही सौन्दर्य और उस अभिव्यक्ति का माध्यम सुन्दर है। कला को अनुकरण नही अपितु आत्मा का चैतन्य-धर्म मानते हैं। प्रकृति चित्त का ही सीमा-युक्त प्रतिफलन है। तुच्छ वस्तुएँ जब चित् से सम्मिलित होकर पूर्ण स्वरूप पा जाती हैं तो वही सुन्दर होती है। इस प्रकार हीगेल के मत में सौन्दर्य अन्तः का ही भाव है और उसका कारण परम सत्ता है।

क्रोचे ज्ञान को अन्वीक्षा-प्रसूत और कल्पना-प्रसूत दो भागों में बाँटते हैं। अन्वीक्षा-प्रसूत ज्ञान के माध्यम से हम दृश्य-जगत की सामान्य वस्तुओ

को देखते हैं तथा कल्पना-प्रसूत के माध्यम से हमारे मानस में वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है। कल्पना-प्रसूत ज्ञान को ही क्रोचे विशेष-ज्ञान (Intuition) कहते हैं। इसी के कारण प्रकाश होता है। यही प्रकाश सौन्दर्य है। वस्तुओं की अभिव्यक्ति मे ही प्रकाश और उस प्रकाश मे ही सौन्दर्य होता है। कल्पना-प्रसूत ज्ञान से जब हमारे अन्तः में वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है तो उसका आकार-प्रकार नहीं होता। सौन्दर्य केवल अभिव्यक्ति है, रूप कदापि नही। काव्य के सौन्दर्य से अभिप्राय बस इतना ही है कि कल्पना मे उसके अर्थ की जो प्रतीति हो रही है वह सुन्दर है। क्रोचे का यह सिद्धान्त सौन्दर्य के विषय-गत पक्ष की अति है। वस्तु से सौन्दर्य इतना निरपेक्ष है कि कल्पना में मिलने वाली वस्तु के सौन्दर्य में भी वस्तु की प्रतीति एकदम नही होती। क्रोचे के इस सिद्धान्त की पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारको ने काफी आलोचना की है।

टालस्टाय उस कलाकृति को सुन्दर मानते हैं जो नैतिक-विवेक जागृत करे। जो कृति नैतिक-विवेक न जगा सके वह कदापि सुन्दर नही। रस्किन सौन्दर्य को ईश्वर की विभूति मानते हैं। ईश्वर पूर्ण और सौन्दर्य की निधि है। इसी के प्रकाश से जगत की वस्तुएँ सुन्दर है। सौन्दर्य से हमे ईश्वर के कर्तापन का बोध होता है। सौन्दर्य मात्र इन्द्रिय-सुख नही अपितु आह्लाद उत्पन्न करता है।

कीट्स ने सौन्दर्य और सत्य को एक रूप माना है। सुन्दर सत्य है और सत्य ही सुन्दर है। ऐसा इसलिए कि सत्य चित् का स्वरूप है। चित् आह्लाद कारक है और सौन्दर्य का भी परिणाम आह्लाद ही है।

पाश्चात्य विचारको में फ्रायड और मार्क्स के दृष्टिकोण भी विचारणीय है। फ्रायड यौन-व्यापार को सौन्दर्य का उत्पादक मानता है। इन्द्रियो के माध्यम से हमें जो सुख प्राप्त होता है उससे अधिक वह कला से प्राप्त होने वाले आह्लाद को महत्व नहीं देता। इस संबंध मे ध्यान देने की सबसे बडी बात यह है कि प्रत्येक कलाकृति का प्रेरक यौन-व्यापार ही नहीं होता। निराला जी की 'भिक्षुक' कविता का प्रेरक क्या यौन-व्यापार है? इसी प्रकार पटना के सचिवालय के सामने बनी सात शहीदों की मूर्तियों का प्रेरक भी यौन व्यापार नहीं हो सकता। ठीक यही बात कला से उत्पन्न होने वाले आनन्द के विषय मे भी है। जीवन के कार्य-व्यापार मे इन्द्रियो के माध्यम से हमें जो सुख प्राप्त होता है ठीक वही कला से भी नही प्राप्त होता। कलाकृति या काव्य से आनन्दोपलब्धि करते समय हम तद्वत हो जाते हैं

अर्थात् वह वस्तु हमारे भाव रूप में परिणत हो जाती है। हमारे व्यक्तित्व का उस वस्तु में लय हो जाता है। ठीक यही बात जीवन के कार्य कलाप में इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुख में तो होती नही।

मार्क्स के अनुसार सामाजिक जीवन हमारे मानस पर प्रभाव डालता है। हमारे भावो का परिष्कार इस सामाजिक जीवन के कारण होता है। हम किसी भी कलाकृति से जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह इस सामाजिक ज्ञान के कारण है। इसलिए सौन्दर्य समाज सापेक्ष है। वह वस्तु में होता है जिसे हम समाज के ज्ञान के माध्यम से प्राप्त करते हैं। मार्क्स का यह भी कथन है कि हमारे सौन्दर्य-बोध को आर्थिक परिस्थिति प्रभावित करती है। सामाजिक-जीवन हमारे मानस को प्रभावित करता है यह बहुत अंशों में ठीक है, पर निरन्तर ऐसा ही होता हो, यह बात नहीं स्वीकार की जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ समस्याएँ होती है। वह बाह्य जगत् से जितना प्रभावित होता है उससे कम अन्तर्जगत से नहीं। अधिकांश कलाकृतियाँ व्यक्तिगत भावों का ही परिणाम हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य-बोध पर आर्थिक स्थिति के प्रभाव का भी प्रश्न है। आर्थिक स्थिति सौन्दर्य-बोध को प्रभावित कर सकती है, पर इसका अभिप्राय यह नही हो सकता कि उसका प्रभाव अपरिहार्य होता है। यदि ऐसा होता तो आज भी कलाकार प्रकृति से क्यो प्रेम करते ? कमल या गुलाब के फूलों से प्यार करना कौन-सा आर्थिक लाभ देता है ?

पाश्चात्य मनीषियो ने काव्य को कला का अंग मानकर सौन्दर्य को उसका प्रतिपाद्य माना। इसके विपरीत भारतीय विचारकों ने काव्य को कला का अंग नही माना। समस्या पूर्ति कला हो सकती है, पर स्वयं काव्य नही। काव्य में रस की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है और इसी रस का विश्लेषण भारतीय मनीषियों ने अनेक प्रकार से किया है। रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति एक ही नहीं, जैसा प्राय. लोग भ्रमवश समझ लिया करते हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र भारतीय विचारकों के विचार दिखाई पडते हैं।

कालिदास सौन्दर्य को यथास्थान-विनियोजित्त और अलौकिक मानते है। संगति सौन्दर्य का कारण है। वस्तु का उचित स्थान पर सन्निवेश करने पर ही सौन्दर्य उत्पन्न होता है। सौन्दर्य अलौकिक है, इसलिए सुन्दर वस्तु का निर्माण लौकिक हाथों से नही होता। वह इस जगत की निर्मित नहीं है। सौन्दर्य को अलौकिक सृष्टि मानने के कारण कालिदास उसमें प्रत्येक अवस्था में आकर्षण देखते हैं। कालिदास की यह अवधारण अंग्रेजी की कहावत 'सुन्दर वस्तु सदैव

आनन्द देने वाली होती है' के एकदम निकट है। सौन्दर्य और नैतिकता का बहुत गहरा सम्बन्ध है। जो स्वभावत: रमणीय है, मनोहर है, उसको अतिरिक्त अलंकरण की आवश्यकता नहीं। वह स्वयमेव मधुर है। सौन्दर्य सौभाग्य का फल देने वाला होता है। शिवत्व से हीन सौन्दर्य की कल्पना कालिदास ने नहीं की है। इस प्रकार कालिदास ने सौन्दर्य को अलौकिक सृष्टि मानकर संगति, नित्य नवीनता, पूर्णता, नैतिकता, मंगल आदि को उसका अनिवार्य तत्व बताया।

माघ ने सौन्दर्य को नित नूतन माना है क्योंकि आकर्षण सौन्दर्य का कारण है। जिस वस्तु के प्रति जितना ही खिंचाव होगा, उसमें उतना ही सौन्दर्य होगा। 'ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी लुनाई' और 'भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर' में भी यही बात है। जहाँ नित्य-नवीनता होगी, वहीं सौन्दर्य होगा।

'उज्ज्वल नीलमणि' और 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु' के अन्तर्गत सम्मात्रा और संगति में सौन्दर्य माना गया है। वस्तु के अंगों में यथोचित अनुपात और यथास्थान विनियोग भी सौन्दर्य का कारण होता है। औचित्य सम्प्रदाय इसी सिद्धान्त पर आधारित है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का 'स्थिर-जीवित' माना है। अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म कहा है। इसी प्रकार वामन रीति अर्थात् शैली और कुन्तक उक्ति-वक्रता को काव्य का सर्वस्व मानते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सौन्दर्य और सत्य को एक माना है। सत्य में सौन्दर्य इसलिए है कि सत्य, चित्त का स्वरूप है।

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त सौन्दर्य-बोध को एक विशिष्ट अनुभूति मानते हैं, जिसमें ज्ञान, आह्लाद एवं क्रियात्मक वृत्तियों का संयोग रहता है। इसका स्वरूप और लक्षण उपस्थित नहीं किया जा सकता। वे सौन्दर्य-बोध को अनिर्वचनीय मानते हैं। काव्य के अध्ययन अथवा श्रवण से सौन्दर्य-बोध होता है, किन्तु उसके विविध अंगों में किसके कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई, इसका विवरण नहीं दिया जा सकता। सौन्दर्य प्रयोजनातीत है। वह सत्य भी हो सकता है और सत्यासत्य से परे भी। इसकी उपलब्धि में विभाव और आश्रय दोनों सहायक होते हैं।

मराठी विचारक भाटे सौन्दर्य को उपयोगिता एवं विभाव से निरपेक्ष मानते हैं। सौन्दर्य वस्तु का ही गुण नहीं है अपितु उसका मन से सम्बन्ध है।

श्री माढेकर के अनुसार हम सौन्दर्यानुभूति में अपने व्यक्तित्व से किसी वस्तु तक पहुँचना चाहते है। ऐसी स्थिति मे विशुद्ध इन्द्रिय-संवेदन का सहारा लेना पड़ता है। ऐसी संवेदना जिस भावना से मिलती है, उसी को सौन्दर्य भावना मानना चाहिए। इस प्रकार माढेंकर ने इन्द्रिय-बोध के माध्यम से 'स्व' का 'पर' मे लोप करते समय जो अनुभूति होती है, उसी को सौन्दर्य-बोध माना है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सुन्दर वस्तु मे ही सौन्दर्य की स्थिति मानी है। हमारी अन्तस्सत्ता की तदाकार (वस्तु की भावना रूप मे) परिणति सौन्दर्य है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि शुक्ल जी आत्मा की तदाकार परिणति कह कर सौन्दर्यानुभूति को रसानुभूति ही मान लेते हैं। यही कारण है कि चमत्कार को उन्होने सौन्दर्यानुभूति से पृथक् माना है।

प्रसाद जी सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान कहते हैं। उनके विचार मे चेतना की निष्कलुष स्थिति सौन्दर्य की स्थिति है।

पंत जी सौन्दर्य को 'प्रज्ञा का सत्य स्वरूप' और ज्ञाता की आँखों में रहने वाला कहते हैं। इस प्रकार वे सौन्दर्य-बोध को विश्लेषणात्मक और आश्रयगत मानते हैं।

डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा ने अपनी अनुभूति-प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाली वस्तु कें गुण को सौन्दर्य और वस्तु को सुन्दर कहा है। हमारी यह अनुभूति किसी वस्तु की अनुभूति से उत्पन्न ज्ञान का नाम है।

## सौन्दर्य और कुरूपता

संवेग दो प्रकार के होते है—भावात्मक और अभावात्मक। किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट होने पर उस वस्तु में हम अपने व्यक्तित्व का लय करना चाहते है तो वह स्थिति भावात्मक संवेग की होती है। इसके विपरीत जब किसी वस्तु के प्रति विकर्षण उत्पन्न होता है, उद्दीपन के प्रति अस्वीकृति का भाव जगता है तो वह अभावात्मक संवेग कहलाता है।

इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत में कुछ वस्तुएँ आकृष्ट करती है और कुछ नही। कुछ वस्तुओ का रूप-रंग, आकार-प्रकार इन्द्रियो को सुख प्रदान करता है। कुछ वस्तुएँ इन्द्रियों का लक्ष्य बनते ही मानसिक आपत्ति-सी जान पडती हैं। इन्द्रिय-बोध के समय जो वस्तु सुखकर प्रतीत होती है, सामान्य-

तया हम उसे सुन्दर कहते हैं। इसी प्रकार जो दुखकर प्रतीत होती है उसे हम कुरूप कहते हैं। इस सौन्दर्य और कुरूपता के कारण हमारे भावात्मक और अभावात्मक संवेग हैं। भावात्मक संवेग के कारण कोई वस्तु हमें सुन्दर और अभावात्मक संवेग के कारण कुरूप लगती है। बर्क ने कुरूपता या भद्देपन को सौन्दर्य का विलोम कहा है। यह कुरूपता को अंशत उदात्त के अनुकूल बताता है। उसके अनुसार आकार हीनता, शक्ति आदि दो-एक कुरूपता और उदात्तता दोनो में मिलते है। लेकिन बर्क के इस विचार से सहमति नहीं प्रकट की जा सकती कि कुरूपता और औदात्य दोनो बहुत कुछ एक ही है। औदात्य का मुख्य गुण है भव्यता। उदात्त कही जाने वाली वस्तु को देखने के पश्चात् जो संवेदन उत्पन्न होता है, उसमे आश्चर्य मिश्रित रहता है। इसके विपरीत कुरूप वस्तु को देखने के पश्चात् दुखात्मक सवेदन उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों का आधार ही एकदम भिन्न है। कुरूपता और औदात्य दो अलग-अलग गुण है।

यही एक प्रश्न यह उठता है कि कुरूपता अन्दर की वस्तु है या बाहर की? किसी वस्तु के प्रति जो अस्वीकारात्मक-भाव है उसका लगाव विभाव से होता है अथवा आश्रयगत ही है? रोजेनक्रंज कुरूपता को सौन्दर्य से पृथक् वस्तु का विषय मानता है। इसी प्रकार हार्ट्समैन प्रकृति में कुरूपता को व्यापक रूप से प्रसरित पाता है। प्रकृति सौन्दर्य को लक्ष्य नही बनाती, इसी से प्राय. कुरूप होती है। उसने सौन्दर्य को इन्द्रिय-बोध के लिए ज्ञान-शक्ति की अभिव्यक्ति का परिणाम माना है। कला का लक्ष्य सौन्दर्य नही, अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति के कारण कला मे सौन्दर्य होता है और प्रकृति मे नही। वस्तुत' कोई भी वस्तु कला का विषय बन जाने के पश्चात् कुरूप नही होती। यदि उस कृति में सम्मात्रा, सुव्यवस्था, एकरूपता आदि है तो वह सुन्दर है। दृश्य जगत मे कुकुरमुत्ता, चमगादड, खण्डहर आदि कुरूप कहे जाते हैं, किन्तु काव्य के विषय बन जाने पर सुन्दर कहे जाने लगते हैं। ऐसा होते हुए भी प्रकृति की वस्तुएँ प्राय' सौन्दर्य से हीन होती है, यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सकता।

कुरूपता वस्तु में होती है। जैसे सुन्दर वस्तु से भिन्न सौन्दर्य की सत्ता नहीं, ठीक उसी प्रकार कुरूप वस्तु से भिन्न कुरूपता की सत्ता नही। किसी वस्तु को जब हम कुरूप कहते हैं तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसमे उन गुणो का अभाव है जो कि एक सुन्दर वस्तु में होता है। सम्मात्रा, सुव्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संगति, प्रमाणबद्धता. संयम

व्यंजना, स्पष्टता, मसृणता कोमलता, वर्ण-प्रदीप्ति आदि के अभाव में हम किसी वस्तु को कुरूप कहते हैं।

प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्यबोध और कुरूपताबोध के कारणों का निरीक्षण करते हुए संवेग-वाहिनी शिराओं को तीन समूहों में विभक्त करता है—नैसीसेप्टर्स (Neciceptors), बेनीसेप्टर्स (Beneceptors) और न्यूट्रोसेप्टर्स (Neutroceptors)। नैसीसेप्टर्स पीडादायिनी अनुभूतियाँ, बेनीसेप्टर्स से सुखदायिनी अनुभूतियाँ और न्यूट्रोसेप्टर्स से शेष अन्य संवेगो की अनुभूति होती है। सौन्दर्य की अनुभूति बेनीसेप्टर्स और कुरूपता की अनुभूति नेसीसेप्टर्स के माध्यम से होती है। संवेग-वाहिनी ये तीन प्रकार की शिराएँ तो प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं, किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु को अधिकांश लोग सुन्दर और कुछ लोग असुन्दर कहते है। इसका कारण उनकी मानसिक बनावट होती है। जीव-जगत मे प्राणियों की मानसिक रचना में एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती। पतिंगे जैसे पाजिटिवली हिलियोट्रापिक कोटि के प्राणी सूर्य किरण या प्रकाश की ओर आकृष्ट होते हैं, किन्तु उल्लू जैसे निगेटिवली हिलियोट्रापिक कोटि के प्राणी दीप्ति अथवा प्रकाश से पराङ्मुख ही रहते हैं। अन्धकार उन्हें प्रिय और प्रकाश अप्रिय लगता है। मानव मस्तिष्क के तीन भाग होते हैं—सेरेब्रल, सेरेब्रम और आप्टिकल थैलमस। प्रथम दो में अतीत के तथा वंशानुगत संस्कार सुरक्षित रहते हैं। इसे हम साहचर्य और संस्कार भी कह सकते हैं। मस्तिष्क का आप्टिकल थैलमस भाग उन धमनियों से सम्बद्ध होता है जो मस्तिष्क से नेत्र तक जाती है। नेत्र किसी वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक-अभावात्मक प्रतिक्रिया इन्हीं धमनियों के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। मस्तिष्क में धमनियों द्वारा प्राप्त नेत्रों की अनुकूल प्रतिक्रिया सौन्दर्य और प्रतिकूल प्रतिक्रिया कुरूपता का कारण बनता है। जब नेत्र आप्टिकल थैलमस के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया का निर्माण करने लगते है तो उसकी रचना में सेरेब्रल और सेरेब्रम का भी हाथ रहता है। सौन्दर्य एवं कुरूपता के बोध में जाने-अनजाने वंशानुगत तथा साहचर्यलभ्य संस्कार प्रभाव उत्पन्न करते रहते है। वंशानुगत संस्कार या साहचर्य का ही प्रभाव कहा जा सकता है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कंकरीले टीलों, ऊसर पटपरो, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों, बबूल-करौंदे के झाड़ो में आकर्षण देखा, किन्तु फारसी चाल के बगीचों के गोल-चौकोर कटाव, सीधी-सादी रविशों, मेंहदी के हाथी-घोड़े, काट-छाँट कर सीधी की हुई पेड़ों की कतारें एवं एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब में नहीं। कालिदास तथा धनपाल ने





मन की ऊर्जा के साथ उल्लास, संभ्रम, तथा दुर्निवार प्रभाव को भी औदात्य का गुण बताया। उसके अनुसार भव्य आवेगों की अनुभूति के समय हमारी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति से ऊपर उठ जाती है। हम हर्ष, उल्लास और संभ्रम से युक्त हो जाते हैं। अब इसी के परिपार्श्व में यदि सौन्दर्यानुभूति की स्थिति देखी जाय तो औदात्य से मिलती हुई भी कुछ भिन्न दिखाई पड़ेगी। सौन्दर्य की अनुभूति आवेगों से ही नही होती। आवेग होते है पर वे ही सब कुछ नही होते। इसी प्रकार उनकी भव्य और निम्न अलग-अलग श्रेणियाँ नही बनाई जा सकतीं। यद्यपि लोंजाइन्स ने दया-शोक-भय आदि को निम्नस्तर का कहा है, तो भी ये ही अनुभूतियाँ सौन्दर्यानुभूति की प्रतिष्ठापना में सर्वाधिक सक्षम हो सकती है। यदि ऐसा न होता तो करुण-रस को श्रेष्ठ रस की संज्ञा कैसे मिल पाती? इसी प्रकार दया की भावना एक ऐसी सर्वसुलभ भूमि प्रतिष्ठित करती है जहाँ मानव का मानव से ही नही अपितु प्रकृति से भी तादात्म्य स्थापित हो जाता है। कलाकार विकलांग मानव मे भी सौन्दर्य की तीव्र अनुभूति कर सकता है जबकि औदात्य का प्रमाता ऐसा नही कर सकता। यह सत्य है कि कोई भी वस्तु कला का योग पा जाने के पश्चात् अपने मूल रूप में नही रह जाती। उसके लिए सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न ही नहीं रह जाता। उल्लास और दुर्निवार प्रभाव औदात्य के भाव-पक्ष के दो गुण सौन्दर्य-बोध के समय भी रहते है। सुन्दर कही जाने वाली कोई भी वस्तु अपना प्रभाव डालेगी ही और जब प्रभाव पड़ेगा तो उल्लास होगा ही। उदात्त तत्व की परिभाषा के प्रसंग मे कहा गया यह वाक्य—'वास्तव में महान रचना वही है जिससे प्रभावित होना कठिन ही नही लगभग असम्भव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे' (काव्य में उदात्त तत्व पृ० ५२)—उदात्त कृति के लिए जितना सत्य है, उतना सुन्दर के लिए भी। हाँ, सुन्दर वस्तु संभ्रम नहीं उत्पन्न करती जैसा कि औदात्य मे होता है। औदात्य मे प्रेक्षक का संक्रमण करने की भावना होती है, उसका समर्थन पाने की नहीं। औदात्य को हम विस्मयावेष्ठित होकर प्रेक्षक की दृष्टि से देखते है, जबकि सुन्दर वस्तु हमारे मानस मे आकर भावना रूप मे परिणत होने लगती है।

उदात्त तत्व के विभाव-पक्ष के चार गुण है—अनंत विस्तार, असाधारण शक्ति और वेग, अलौकिक ऐश्वर्य एवं उत्कट प्रभाव। जैसा पहले भी कहा गया है कि औदात्य का प्रधान तत्व है विस्मय। वह संभ्रम उत्पन्न करता है। इसी से औदात्य में हमारी कल्पना दिगंत को पार करने लगती है। जिस वस्तु में जितना विस्तार होगा उसमें औदात्य का उतना ही प्रस्फुटन होगा। छोटी-

छोटी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक विस्तारवाली वस्तुओ मे औदात्य की प्राप्ति अधिक होती है। सामान्यतया क्षुद्र वस्तुओं के माध्यम से औदात्य की प्राप्ति नही हो सकती। किन्तु सुन्दर के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी बन्धन नही। लघु या वृहद के आधार पर हमारी चेतना का श्रेणी-विभाजन नही किया जा सकता। छोटे-छोटे फूल हमारे सौन्दर्य-बोध के अधिक सहायक होते है। इसी प्रकार विशालकाय गरुड़ की अपेक्षा लघु पक्षी हमारे सौन्दर्य-बोध के लिए अधिक अनुकूल भूमि निर्मित करता है। सौन्दर्य-बोध की अवस्था मे हम अपने व्यक्तित्व का लय सुन्दर वस्तु में करना चाहते है, ऐसी अवस्था मे लघु आकार वाली वस्तु मे हमारा व्यक्तित्व सहज ही लय हो जाता है, जबकि वृहद आकार या अनन्त विस्तार वाली वस्तु मे मन लय होने की अपेक्षा संभ्रम से आबद्ध हो जाता हे। असाधारण शक्ति और वेग की भी गति कुछ ऐसी ही है। असाधारण शक्ति और वेग मे सौन्दर्य हो सकता है, किन्तु उसमें अनिवार्य रूप से बराबर रहे ऐसा सम्भव नही। ऐसी वस्तुओ मे हम सहज ही डूब नही पाते। वह हमारी भावना में परिणत नही हो पाती। वह अधिकतर अपनी शक्ति और वेग के कारण हमारे संभ्रम का ही पात्र है। ज्वालामुखी सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा संभ्रम अधिक उत्पन्न करेगा। अलौकिक ऐश्वर्य औदात्य को ईश्वरवादी बनाता है। प्रायः विश्व के सभी देशो मे ईश्वर के जिस स्वरूप की स्थापना की गई, उसमें अलौकिक ऐश्वर्य का आरोपण अनिवार्य रूप से कर दिया गया है। सम्बन्धानुरूपा भक्ति के अन्तर्गत दास्य भाव से उपासना मे इसका विशेष महत्व है। जब तक उपासक को उपास्य के अलौकिक ऐश्वर्य का भान नही होगा तब तक उसकी उपासना मे एकान्तता नही आ पायेगी। औदात्य का यह गुण भी संभ्रम उत्पन्न करता है जो कि सौन्दर्य बोध मे अव्यवस्था ही उत्पन्न करता है। इस संभ्रम के कारण औदात्य प्रेक्षक को प्रभावित करेगा, उसके व्यक्तित्व का उसमें लय नहीं हो पायेगा।

लोंजाइन्स ने उदात्त-तत्व के भाव-विभाव पक्ष के जिन गुणो की विवेचना की है, उनमे अधिकाश सौन्दर्य-बोध की स्थिति मे नही रहते। जैसा कि पहले भी कहा गया है इसका सर्वप्रमुख कारण है कि औदात्य का ध्येय संक्रमण करना और सौन्दर्य का तन्मय करना होता है। कुछ लोग औदात्य को सौन्दर्य का पर्याय मान लेते है, किन्तु मूलतः ये दो भिन्न श्रेणियों की प्रवृत्तियाँ है। औदात्य असाधारणत्व के कारण विस्मय के संवेग जगाता है, जबकि सौन्दर्यानुभूति की अन्तिम परिणति आनन्द मे होती है। हम वस्तु के असाधारणत्व से प्रभावित हो सकते हैं, पर हमारी उसम लीन नही हो सकती

ब्रैडले ने औदात्य को सौन्दर्यशास्त्र का ही शब्द मानकर व्यापक रूप में इसे सुन्दर का ही एक रूप कहा है। उसने सौन्दर्य के पाँच भेद किये हैं—उदात्त भव्य, सुन्दर और ललित। सुन्दर, उदात्त और ललित का मध्यवर्ती है। ब्रैडले ने आगे यह भी स्वीकार किया है कि भव्य रूप की अनुभूति से आश्रय के हृदय पर एक आघात सा लगता है, परिणामस्वरूप उसके हृदय का विस्तार होता है। किन्तु सुन्दर की अनुभूति ज्ञाता और ज्ञेय के बीच सामंजस्य उत्पन्न करता है। सुन्दर की अनुभूति में प्रीति रहती है, जबकि भव्य की अनुभूति में विस्मय, आदर और भय भी विद्यमान रहता है। इस प्रकार उदात्त को सौन्दर्यशास्त्र का अंग मानकर भी ब्रैडले दोनों को दो भिन्न अनुभूतियाँ ठहराते है। जब दोनों की अन्तिम परिणति ही भिन्न है तो उन्हें पर्याय कहना ठीक नही है।

लोंजाइन्स ने औदात्य को शैली का गुण माना है। उसके अनुसार 'जो आवेग उन्माद उत्साह के उद्दाम वेग से फूट पडता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से पूर्ण कर देता है, इसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर मे जैसा औदात्य आता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।' इस प्रकार औदात्य शैली से सम्बद्ध होने के कारण काव्य का बहिरंग तत्व ठहरता है। उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना-विधान, भव्य बिम्ब-योजना एवं समुचित अलंकार-योजना को वह उदात्त शैली के प्रमुख गुण मानता है। भाषा और पद विन्यास परस्पर सम्बद्ध हैं। उपर्युक्त भाषा के अभाव मे विचारों की समुचित अभिव्यक्ति सम्भव नही। भाषा मे गरिमा शब्द के कारण आती है। शब्द सौन्दर्य के माध्यम से भाषा मे दीप्ति आती है। भाषा शब्दो का समवेत रूप है। दीप्तियुक्त शब्दों की योजना से उत्कृष्ट भाषा का निर्माण होता। जैसे हैं शब्दों का समवेत रूप भाषा है, वैसे भाषा के सामंजस्य को रचना-विधान कहते है। भाषा में सामंजस्य रहेगा तभी गरिमा-युक्त रचना हो सकती है। बिम्ब-योजना कल्पना के माध्यम से होती है। बिम्ब-विधान से ऊर्जा का क्षेत्र स्फीत होता है। अलंकार-योजना भी औदात्य की उत्पत्ति मे साधन का कार्य करता है। अलकार-योजना को स्थान तथा समयानुकूल एवं सहज होना चाहिए। लोंजाइन्स के विचार मे उन्हीं अलंकारो की योजना उचित है जो औदात्य के पोषक हो। रूपक, विस्तारणा, शपथोक्ति (सबोधन), प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्नवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचय, सार, रूप परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि उसके मतानुसार औदात्य के पोषक है। रूपक तथा विस्तारणा में विवेचित वस्तु का विस्तार होने से शपथोक्ति तथा प्रश्ना

लंकार मे शपथ और प्रश्न के द्वारा ओज की सृष्टि से उदात्त तत्व की सृष्टि होती है। विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति और अनुक्रम भंग तभी होता है जब प्रयोक्ता मे आवेग की तीव्रता हो। यह आवेग ही औदात्य का कारण है। प्रत्यक्षीकरण मे वर्ण्य-विषय प्रत्यक्ष साकार हो उठता है। संचय और सार मे विषय का तत्व एक ही स्थान पर संकलित होकर दीप्त हो उठता है। रूप परिवर्तन मे परिचित वस्तु के रूप परिवर्तन तथा पर्यायोक्ति में बात को प्रकारान्तर से कहने मे चमत्कार उत्पन्न होता है। यह चमत्कार ही औदात्य का आधार बनता है। संक्षेप मे उदात्त शैली के ये गुण है।

उदात्त शैली के उपर्युक्त चर्चित गुण सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत आते है। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूपो मे सौन्दर्य होता है। बहिरग सौन्दर्य को ही शैली-तत्व कहा जाता है। उत्कृष्ट भाषा, रचना-विधान, बिम्ब-विधान तथा अलंकार-योजना आदि काव्य का बहिरंग सौन्दर्य बढाते है। काव्य के अभिव्यक्त रूप का यदि विवेचन किया जाय तो रूप, भोग और अभिव्यक्ति—ये तीन अंग दिखाई पडते है। कला की जो भी स्वरूप-सृष्टि है, वह अभिव्यक्ति के अन्तर्गत आती है। प्रेक्षक मे सौन्दर्य की अनुभूति इसी से उत्पन्न होती है। काव्य मे जो कुछ अभिव्यक्त रूप है वह भाषा, रचना-विधान, बिम्ब-योजना और अलंकार-विधान के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। इसलिए उदात्त शैली के जो तत्व है वही काव्य का बहिरंग सौन्दर्य है। इस प्रकार उदात्त शैली सौन्दर्य-शास्त्र का ही अंग सिद्ध होती है। पर, उदात्त तत्व और सौन्दर्य को पर्याय नहीं कहा जा सकता।

## सौन्दर्य और कोमलता

कोमलता रूप का गुण है। वस्तु के बाह्य आकार-प्रकार के सौन्दर्य की परीक्षा करते हुए लोगो ने सुव्यवस्था, सम्मात्रा, विविधता, एकरूपता, औचित्य, संयम, व्यंजना, स्पष्टता आदि के साथ कोमलता को भी इसका एक गुण माना। कलाकृति की यदि व्याख्या की जाय तो इसके तीन अंग दिखाई पडते है—रूप, भोग और अभिव्यक्ति। वस्तु का आकार-प्रकार ही उसका रूप है। व्यक्त जगत में हम सुन्दर वस्तु के प्रति आकृष्ट होते है। यह आकर्षण उसके रूप के प्रति होता है। सुन्दर वस्तु के प्रति उसकी सापेक्षता, संगति, समता, संतुलन के साथ कोमलता भी आकृष्ट करती है। किन्तु रूप मे कोमलता स्पर्श का विषय है। वैसे सुन्दर वस्तु का चक्षुरेन्द्रिय मे जो आकार—प्रकार

रूपायित होता है उसके समन्वित प्रभाव में भी कोमलता निहित होती है। वस्तु का आकार-प्रकार जब भावना में परिणत होने लगता है तो उस समय जिस सरसता की अनुभूति होती है उसमें भी कोमलता की भावना होती है। यह कोमलता, सरसता की जननी है। वस्तु के भोग की स्थिति में कोमलता स्पर्श का विषय न रहकर अनुभूति बन जाती है। अभिव्यक्ति में भी प्राय: कोमलता स्पर्श का विषय नहीं होती। वस्तु-कला की सृष्टि में स्पर्श-जन्य कोमलता के लिए स्थान कहाँ ? ईंट अथवा सीमेंट से बने भवन अथवा पत्थर की मूर्ति को कोमल नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कागज पर रंग के माध्यम से रूपायित दृश्य अथवा मसि से लिखी कविता स्पर्श करने पर कोमल नहीं लगेगी। वहाँ कोमलता अनुभूति का विषय कही जा सकती है। कोमलता की अनुभूति ही हृदय को रसार्द्र बनाती है और जहाँ सौन्दर्य की अनुभूति होगी वहाँ कोमलता की अनुभूति होगी ही।

## सौन्दर्य और उपयोगिता

टालस्टाय ने सर्वप्रथम 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की टीका की। वे कला का साध्य न सौन्दर्य मानते थे और न आनंद। कला कृति को वे नैतिक विवेक जागृत करने वाला मानते थे। उनका यह सुधारवादी दृष्टि-कोण अवान्तर रूप से कला का साध्य उपयोगिता मानता है।

'कला जीवन के लिए है' का सिद्धान्त 'कलावाद' की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ। इसने कलावाद के विपरीत दूसरे छोर को पकड़ा। कला का जीवन से असम्पृक्त होकर कोई स्थान नहीं। वह जीवन-सापेक्ष है। साहित्य तो मूलतः भाषा के माध्यम से जीवन की आलोचना है। जीवन में जो कुछ भी है उसी की अभिव्यक्ति साहित्य में है। इसी से वह जीवन की आलोचना है।

मार्क्स या साम्यवादी विचारधारा ने इस दृष्टिकोण को अत्यन्त सशक्त रूप से प्रतिपादित किया। मार्क्स के अनुसार हमारी आर्थिक परिस्थिति सौन्दर्यानुभूति को प्रभावित ही नहीं करती अपितु उसी का प्रतिबिम्ब है। हमारा सौन्दर्य-बोध सामाजिक जीवन और आर्थिक परिस्थिति से बराबर प्रभावित होता रहता है। मार्क्स का कला या साहित्य के प्रति यही उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। मार्क्स के पश्चात् साम्यवादी विचारधारा को कार्यरूप में परिणत करने वाले स्टेलिन और माओ ने तो कला अथवा साहित्य

को राजनीति का हथकण्डा मान लिया है। माओ ने 'कला और साहित्य की समस्यायें' नामक परिपत्र मे साहित्य और कला को राजनीतिक विचारो के प्रसारण का साधन माना है। साहित्य साध्य नही अपितु साधन है। मार्क्स साहित्य और कला को समाज के परिपार्श्व में रखकर मूल्यांकन करने के पक्षपाती थे, इसलिए माओ कलाकार के व्यक्तित्व का भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानने के लिए तैयार नही। तभी तो उनकी दृष्टि मे साहित्य समाज सापेक्ष ही नहीं अपितु राजनीति का हथकण्डा भी है।

मार्क्सवादी आलोचको मे केवल ट्राटस्की साहित्य को दल के अनुशासन से मुक्त मानते थे। वे दल का कर्तव्य इतना ही मानते थे कि वह साहित्य के सहायक के रूप में कार्य करे। किन्तु काडवेल जैसे विचारको ने भी ट्राटस्की के इस विचार से असहमति प्रकट की। उपन्यास सम्राट् प्रेमचंद भी जीवन से निरपेक्ष होकर साहित्य का अध्ययन नहीं करना चाहते थे। उन्होने प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको का इसीलिए विरोध किया कि उसमे अतीत के कथानक है। वे जीवन की वर्तमान समस्याओ से असम्पृक्त होकर साहित्य निर्माण के समर्थक नहीं थे। इसी प्रकार साम्यवादी समीक्षक साहित्य के माध्यम से जीवन की समस्याओं की अभिव्यक्ति के समर्थक है और इस बात को कोई समझदार अस्वीकार भी नही कर सकता। साम्यवादी विचारधारा से वही विमति होती है जहाँ वह साहित्य को प्रचार का साधन मान लेता है अथवा साहित्य को धन के साथ जोड़ देता है। भारतीय रस सिद्धान्त को मानने वाले समीक्षक काव्य को प्रचार और राजनीति से अलग मानते है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य के तीन गुण माने है—(अ) रागों या मनोवेगो का परिष्कार करते हुए उनका सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करना। (आ) कार्य में प्रवृत्त करना, (इ) मन को रमाते हुए स्वभाव तथा चरित्र मे संशोधन करना। भारतीयों की दृष्टि मे काव्य की यही उपयोगिता है।

सौन्दर्य और उपयोगिता पर विचार करते समय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उपयोगिता है क्या? अर्थशास्त्रियो ने उपयोगिता को मानसिक विचार और मूल्य दोनो स्वीकार किया है। किसी वस्तु को जब हम क्रय करते है तो मानसिक संतुष्टि भी मिलती है। वस्तु के क्रय मे जहाँ एक ओर मानसिक संतुष्टि प्राप्त होती है, वही उस संतुष्टि के लिए कुछ व्यय भी करना पड़ता है। इस व्यय का ही नाम मूल्य है। इस प्रकार प्रत्येक मानसिक संतुष्टि के लिए हम कुछ व्यय करते हैं। मानसिक संतुष्टि और व्यय दोनों हमारे





मस्तिष्क मे रहते है। मूल्य और इस मूल्य से प्राप्त होने वाली मानसिक संतुष्टि दोनो की तुलना मस्तिष्क करता रहता है। मानसिक संतुष्टि जितनी ही जिस वस्तु से प्राप्त होगी, उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा। वस्तु की उपयोगिता की माप उसकी आवश्यकता की तीव्रता के रूप मे ही अनुभव किया जा सकता है। इस मानसिक सतुष्टि और व्यय के माप का स्थूल या आकारयुक्त मापन नहीं होता। यह तो मानसिक अनुभूति मात्र है। उपयोगिता के माप के लिए प्रमाणिक इकाई निश्चित करना असम्भव है। इस माप के सम्बन्ध मे एक बात यह भी है कि आश्रय, समय और स्थान के अनुसार इसमे परिवर्तन होता रहता है। कोई वस्तु जितना व्यक्ति विशेष को संतोष प्रदान कर सकती है, उतनी ही मात्रा मे दूसरे को नही प्रदान कर सकती। इसी प्रकार स्थान या समय-विशेष पर किसी वस्तु का जितना उपयोग हो सकता है, उतना ही सभी वस्तुओ का नही। इसी से मूल्य, समय और स्थान सापेक्ष है। किन्तु अर्थशास्त्र में मूल्य को हम अर्थ मे ही मापते है।

सौन्दर्य आह्लाद उत्पन्न करने वाली अनुभूति है जो विभाव के कारण आश्रय को उपलब्ध होती है। उपयोगिता को मात्र अनुभूति माना जाय तो उसका सम्बन्ध सौन्दर्य से जोड़ा जा सकता है। यदि उपयोगिता वस्तु की वह क्षमता है जिससे मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति होती है तो सुन्दर वस्तु से भी हमारी सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता की पूर्ति होती है।

सौन्दर्यानुभूति प्राय. प्रत्येक संस्कारयुक्त व्यक्ति के मानस में एक आवश्यकता के रूप में विद्यमान रहती है। सुन्दर वस्तु से प्राप्त होने वाली अनुभूति की तीव्रता मे स्तर-भेद हो सकता है, अनुभूति में नहीं। सौन्दर्य की उपयोगिता के पक्ष को यहाँ तक सीमित रखा जाय तो किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। असहमति वहीं होती है, जहाँ उपयोगिता का अर्थशास्त्र में प्राप्त होने वाला अर्थ लगाया जाता है। अर्थशास्त्र में उपयोगिता का अर्थ मानसिक संतुष्टि और मूल्य दोनो साथ ही साथ होता है। संतुष्टि की तीव्रता के स्तर पर ही उसका मूल्य निर्धारित होता है। सुन्दर वस्तु से मिलने वाली अनुभूति से मानसिक सतुष्टि होती है, किन्तु इस संतुष्टि को मूल्य मे नही बाँधा जा सकता। इसके साथ ही सुन्दर वस्तु मे प्राप्त संतुष्टि को आर्थिक परिस्थिति नही प्रभावित करती। कागज के फूल से आर्थिक लाभ होता है, किन्तु उससे प्राप्त होने वाली मानसिक संतुष्टि ठीक उतनी ही नहीं होती जितनी प्राकृतिक फूल से।

इस प्रकार उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों ही एक सीमा तक मानसिक

संतुष्टि के उपकरण हैं। किन्तु दोनों मे सबसे बड़ा भेद यह है कि उपयोगिता का साध्य आर्थिक लाभ है, जबकि सौन्दर्य की मानसिक संतुष्टि मात्र है।

## सौन्दर्य का वर्गीकरण

सौन्दर्य एक ऐसी आह्लादकारी अनुभूति है जो प्रमेय के कारण प्रमाता मे उद्भूत होती है। सौन्दर्य वस्तु का गुण है तो चेतना की अनुभूति भी। वह अनुभूति में प्राप्त होने वाला, वस्तु से निरपेक्ष, विशेष ज्ञान नही अपितु वस्तु के संदर्भ मे प्राप्त होने वाला सामान्य ज्ञान है। वस्तु के अभाव मे अनुभूति नही हो सकती और अनुभूति वस्तु से निरपेक्ष होकर स्थित नही रह सकती। ऐसी अवस्था मे सौन्दर्य बोध के दो पक्ष है—आश्रय और विभाव, प्रमेय और प्रमाता अथवा ज्ञेय और ज्ञाता। इसी से सौन्दर्य का अध्ययन दो प्रकार से होता है—वस्तु-परक और आत्म-परक। सौन्दर्य को वस्तु का गुण मानने वाला वस्तु-परक सिद्धान्त है तथा उसे मात्र चेतना की अनुभूति मानने वाला आत्म-परक सिद्धान्त है। कुछ लोग दोनों की स्थिति मानते है, इससे उसे समन्वयवादी दृष्टिकोण कहते है।

## वस्तुपरक दृष्टिकोण

सौन्दर्य का प्रयोग वस्तु, भाव, व्यापार और काव्य के लिए भी किया जाता है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सौन्दर्य की स्थिति कहाँ है? सौन्दर्य की सत्ता वस्तु में है, अनुभूति में है अथवा अभिव्यक्ति मे? किसी वस्तु के रूप-रंग में हमे कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है, तब हम आकृष्ट होते हैं। सामान्य वस्तुओं से भिन्न जिस विशेषता की अनुभूति उन वस्तुओ में होती है, उस विशेषत्व के कारण ही हम उसे सुन्दर कहते हैं। ग्रीक विचारको ने अनुकृति और अन्विति के कारण वस्तु मे सौन्दर्य देखा था। प्लेटो के अनुसार कला प्रकृति की अनुकृति है। कोई वस्तु हमारे मानस में आती है फिर उसका आध्यात्मिक जन्म होता है। इस प्रकार वह सौन्दर्य के वस्तु-परक दृष्टिकोण से आध्यात्मिक पक्ष की ओर चला गया। अन्विति का दृष्टिकोण वैविध्य मे ऐक्य के स्थापन में सौन्दर्य देखता है। अरस्तू ने सीधी रेखाओ, वृत्त और उसमे बनने वाले धरातल में सौन्दर्य देखा है। ऐसा इसलिए कि उसमें अन्विति प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त हो रही है। यह दृष्टिकोण सौन्दर्य-शास्त्र को ज्यामिति के निकट ले जाता है। ज्यामिति के सन्दर्भ मे सौन्दर्य शास्त्र का करन स एक और परिणाम हुआ कि अरस्तू ने

शृंखला (Order), समता (Symmetry) तथा निश्चित सीमा (Definite limitation) को सौन्दर्य का प्रमुख तत्व माना। शृंखला, समता, निश्चित सीमा आदि को मूर्तिकला, चित्रकला आदि मे देखा जा सकता है। मूर्ति के अंगावयो में एक शृंखला, समता एवं उनके उठाव और गिराव मे निश्चित सीमा का होना आवश्यक है। अन्य कलाओ के सन्दर्भ मे भी इन गुणों की आवश्यकता होती है। ये तत्व सौन्दर्य को वस्तु-सापेक्ष सिद्ध करते हैं। किन्तु कुछ विचारक सौन्दर्य को वस्तु का गुण न मानकर चेतना का विषय मानते है। उनके अनुसार वस्तु मे सौन्दर्य नही निहित होता अपितु हमारी चेतना का विषय बन जाने से वस्तु सुन्दर प्रतीत होती है। सौन्दर्यानुभूति की अवस्था समाधि के समान होती है, जहाँ वाह्य-वस्तु का आधार छूट जाता है। इस समाधि की अवस्था मे जिस वस्तु के माध्यम से सौन्दर्य-बोध होता है अथवा जिसके माध्यम से हम सौन्दर्य-बोध तक पहुँचते है उसका लोप हो जाता है। प्रमाता के मानस में अनुभूति के समय प्रमेय का अस्तित्व रह ही नहीं जाता। वह लय हो जाता है। मात्र अनुभूति शेष रहती है। पर व्यवहार में स्थिति कुछ और होती है। प्रमाता को जब प्रमेय के माध्यम से सौन्दर्य-बोध होता है तो प्रमेय उसके मानस से सर्वथा लुप्त नही हो जाता। उस वस्तु की प्रतीति से ही अनुभूति होती है। इस अनुभूति की स्थिति तभी तक रह सकती है, जब तक वस्तु की प्रतीति होती रहे। वस्तु की प्रतीति जहाँ लुप्त हुई तहां हम उस भावभूमि से च्युत हो जाते है। दूसरे समाधि का स्वरूप बहुत कुछ स्वप्नवत होता है। वहाँ वास्तव की प्रतीति नही अपितु शून्य की भ्रान्ति रहती है। किन्तु सौन्दर्य-बोध को शून्य की भ्रान्ति नही कहा जा सकता। सौन्दर्य-बोध के समय वास्तव की प्रतीति भी होती रहती है। वस्तु के सौन्दर्य का बोध हमें इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्द्रियो के माध्यम से ही हम बाह्य जगत का अनुभव करते है। इन्द्रियाँ प्रमेय से पृथक जगत या भाव की सृष्टि नही करती। उन्ही के माध्यम से हमें जड़-चेतन, प्रकृति-मानव, स्त्री-पुरुष सभी के आकार-प्रकार में स्थित सौन्दर्य का बोध होता है। किन्तु सौन्दर्य-बोध की स्थिति इन्द्रिय-बोध तक ही सीमित नही है। उसकी सत्ता भाव-जगत और विचारों में भी है। इतना होते हुए भी 'सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है।' फिर भी उसे वस्तु तक ही सीमित नही किया जा सकता। सौन्दर्य की सत्ता प्रकृति में है, मानव जीवन में है और चेतना में भी है।

कला का जो कुछ भी व्यक्त स्वरूप दिखाई पड़ता है उसमें तीन तत्व

होते है—रूप, भोग और अभिव्यक्ति। जिन पदार्थों के माध्यम से हम अपने भावो को मूर्त स्वरूप प्रदान करते है, वह ही भोग है। तूलिका और रग के माध्यम से हम चित्र को, पाषाण खण्ड के माध्यम से मूर्ति को एव स्वर तथा नाद के माध्यम से संगीत को स्वरूप प्रदान करते है। इन कलाओ मे रंग, पाषाण और स्वर ही भोग है। इस भोग के माध्यम से कला का जो आकार बनता है, वह ही रूप है। भोग और रूप के समन्वय से हमारी चेतना मे जो कलाकृति प्रतिफलित होकर आह्लाद उत्पन्न करती है, वह ही कला का अभिव्यक्ति-गत रूप है। रूप और भोग की विवेचना वस्तुपरक दृष्टिकोण के अन्तर्गत आती है। सामान्यतया भोग के माध्यम से जिस रूप का निर्माण होता है, उसे ही हम कला-कृति कहते है। सौन्दर्य की अनुभूति इसी के माध्यम से होती है। रूप से निरपेक्ष होकर कला-कृति के सौन्दर्य की कल्पना असम्भव है। यह रूप ही चक्षिवन्द्रिय द्वारा मानस मे आकर भाव रूप मे परिणत हो जाता है। इस अवस्था मे भी प्रमेय के रूप की प्रतीति बराबर होती रहती है।

कलाकृति या सुन्दर वस्तु मे कुछ ऐसे तत्व होते है जिनके कारण हमे सौन्दर्य-बोध होता है। सापेक्षता(Proportion), समता (Symmetry), संगति (Harmony), संतुलन (Balance),सुव्यवस्था (Order), विविधता (Variety), औचित्य (Propriety), जटिलता (Intrecacy), स्पष्टता (Simplicity), व्यंजना (Suggestion), मसृणता (Smoothness), कोमलता (Tenderness), एव वर्ण प्रदीप्ति (Colouring) के कारण वस्तु मे सौन्दर्य का बोध होता है। सापेक्षता या प्रभाव-बद्धता रूप का वह तत्व है जो उसके सम्पूर्ण अंगो मे एकतानता लाता है। समता जहाँ रूप के अंग-विशेष की समानुरूपता दूसरे अंग से स्थिर करती है, वही सापेक्षता अवयव नही अपितु अवयवो की व्यवस्था की ओर आकृष्ट रहती है। दायें हाथ को बायें के अनुरूप होना समता है, किन्तु हाथ के ही अनुपात में पैरो की लम्बाई सापेक्षता है। किसी रस के वर्णन मे आये हुए अलंकार के उपमेय और उपमान की समानुरूपता समता और रस के प्रत्येक अवयव की समुचित व्यवस्था सापेक्षता है। संगति, संतुलन तथा सुव्यवस्था वस्तु के ऐसे तत्व है जिनके कारण प्रमाता को सौन्दर्य-बोध होता है। रूप के निर्माण मे प्रयुक्त हुए विविध भोग परस्पर के सहयोग से ही प्रमाता मे भावोद्बोध कर सकते है। किसी चित्र के रंग, रेखाएँ आदि एक दूसरे की पुष्टि ही नही अपितु श्रीवृद्धि भी कर सकते है। ये तत्व जब एक योजना मे आबद्ध होते हैं और एक दूसरे को

आघात नहीं पहुँचाते तो उसे संतुलन कहते है। वस्तु मे सौन्दर्य की प्राप्ति संतुलन के ही कारण होती है। उदाहरण स्वरूप काव्य मे भावानुकूल भाषा ही आह्लाद उत्पन्न कर सकती है। भाषा और भाव का परस्पर संतुलन लुप्त हो जाने से काव्य श्री-हीन हो जाता है। वस्तु का एक अन्य गुण—सुव्यवस्था या समुचित क्रम-विधान है। काव्य शब्द से रूप ग्रहण करता है, पर इन शब्दो को जब सुव्यवस्थित रूप प्राप्त होगा, तभी उत्तम काव्य का निर्माण हो सकता है। तडक-भडक वाले शब्दों का एकत्रीकरण कविता नही अपितु कविता सर्वोत्तम शब्दो का सर्वोत्तम क्रम-विधान है। विविधता वैचित्र्य उत्पन्न करती है। वैचित्र्य में आकर्षण निहित है और आकर्षण ही नवीनता उत्पन्न करता है। नित्य नवीनता में ही वैविध्य है, इसलिए वैविध्य सौन्दर्य का उत्पादक है। अद्भुत तथा भयानक रसों में आलम्बन वैचित्र्य से युक्त रहता है। हास्य रस का उत्पादक भी बहुत कुछ वैचित्र्य ही है। उचित के भाव को औचित्य कहते है। कोई वस्तु यदि दूसरे के सदृश हो तो लोग उसे उचित कहते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के अट्ठाइस अंग गिनाकर प्रत्येक में औचित्य का अपरिहार्य स्थान बताया है। काव्य के ये तत्व शब्द, काव्यशास्त्र के तत्व (भाव), चरित्र और परिस्थिति से सम्बद्ध हैं। भोज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में औचित्य को भाषा तथा शैली का गुण बताया है। उनके अनुसार काव्य मे छः प्रकार के औचित्य होते है—विषयौचित्य, वाचौचित्य, देशौचित्य, समयौचित्य, वक्तृ विषयौचित्य एवं अर्थौचित्य। इस प्रकार औचित्य, वस्तु या काव्य के सौन्दर्य का अनिवार्य तत्व है। जटिलता का मूल है वक्रता। आचार्य कुन्तक ने उक्ति वैचित्र्य को काव्य का जीवित माना है। उनके वक्रोक्तिवाद की परिधिमें काव्य के सभी अवयव आ जाते हैं। किन्तु कहीं-कही जटिलता की अपेक्षा सरलता अधिक आकर्षक लगती है। भारतीय मनीषियो ने स्पष्टता या सरलता का विधान स्वभावोक्ति अलंकार और धीर-प्रशान्त नायको मे किया है। इसके अतिरिक्त स्पष्टता अभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख गुण है। अर्थ की अस्पष्टता काव्य का दोष है। व्यंजना, वस्तु की भी हो सकती है, भाव की भी और अलंकार की भी। मसृणता और कोमलता स्पर्श के ही विषय है। काव्य मे उनकी अनुभूति सरसता के साथ होती है। वर्ण-प्रदीप्ति की भी दशा बहुत कुछ ऐसी ही है।

## दृष्टिकोण

मानते है। बोसांके सौन्दर्य को आन्तरिक व्यापार मानते है। सौन्दर्य आनन्द-मय अनुभूति है। सौन्दर्य की उत्पत्ति के लिए मनोयोग का होना आवश्यक है। किन्तु मनोवेग के लिए अनुरूप आलम्बन का होना आवश्यक है। इसी प्रकार हीगेल ने सौन्दर्य को बाह्य सत्ता माना है, इसके साथ उसका यह भी कथन है कि अन्तर की चित् परम्परा से एकाकार हुए बिना कोई वस्तु सुन्दर नही हो सकती। बोसाके तथा हीगेल सौन्दर्य को आत्मपरक मानकर भी वस्तु से निरपेक्ष उसकी सत्ता नही स्वीकार करते। आत्मपरक दृष्टिकोण की अति क्रोचे मे दिखाई पडती है। क्रोचे के अनुसार चार वृत्तियो के संयोग से आत्मा का निर्माण हुआ है—वीक्षा-मूलक, अन्वीक्षामूलक, विधिमूलक तथा योगक्षेम मूलक। हम संसार मे जो कुछ भी देखते है उसका बोध हमे वीक्षा-मूलक वृत्ति द्वारा होता है। वीक्षावृत्ति द्वारा हमे सौन्दर्य का जो बोध होता है, वही सौन्दर्य है। जो वस्तु हमारी वीक्षावृत्ति के अन्तर्गत नही आती, वह सुन्दर नही है। हम अपनी अन्वीक्षा वृत्ति द्वारा बाह्य-जगत की किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते है, फिर हमारी वीक्षावृत्ति उसे उसके प्रकृत स्वरूप मे पृथककर काल्पनिक स्वरूप की सृष्टि करती है। इस वीक्षा वृत्ति के कारण सौन्दर्य की स्थिति बाह्य जगत मे नही है। हमारा अन्तर्व्यापार वस्तु की काल्पनिक पुनर्सृष्टि करता है। इस पुनर्सृष्टि से ही हमें आनन्द की उपलब्धि होती है। किसी चित्र के रूप-रंग अथवा काव्य के शब्द-छन्द से हमें सौन्दर्य की उपलब्धि नही होती, अपितु ये हमारे कल्पना-व्यापार को सक्रिय बना देते है। हमारी कल्पना मे जो सृष्टि होती है, वह चित्र या काव्य के प्रकृत स्वरूप से भिन्न होती है। इस प्रकार उस चित्र या काव्य के दो स्वरूप हो गये—एक प्रकृत स्वरूप और दूसरा कल्पनाभाषित स्वरूप। कल्पना में भाषित होने वाले स्वरूप को ही हम सुन्दर कहते है। वस्तु के प्रकृत स्वरूप मे सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य केवल कल्पना का व्यापार है, उसकी स्थिति बाह्यजगत मे एकदम नही है।

क्रोचे ने सम्पूर्ण ज्ञान को दो वर्गो में विभक्त किया है—अन्वीक्षा प्रसूत ज्ञान और कल्पना प्रसूत ज्ञान। अन्वीक्षा प्रसूत ज्ञान सामान्य ज्ञान है और कल्पना प्रसूत ज्ञान विशेष ज्ञान। अन्वीक्षा द्वारा प्राप्त बाह्य जगत की वस्तुओ का ज्ञान सौन्दर्य-बोध मे सहायक नही होता। अन्वीक्षा ज्ञान से पृथक कल्पना में वस्तु के जिस स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है उसी से प्रकाश उत्पन्न होता है। यह प्रकाश ही सौन्दर्य-बोध का विधायक है। अन्वीक्षा वृत्ति द्वारा जिस वस्तु का हम ज्ञान प्राप्त करते है उसके

प्रकृत स्वरूप में हमारी कल्पना संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन करके मानस के लिए ग्राह्य बनाती है। इस कल्पना में वस्तु का जो संशोधित अथवा परिवर्तित रूप दिखाई पड़ता है, उसे हम सुन्दर कहते है। सौन्दर्य कल्पना-प्रसूत अन्तर्व्यापार है, इसलिए उसका स्वरूप स्थिर नही किया जा सकता। हमारा कल्पना प्रसूत ज्ञान अन्वीक्षा से एकदम पृथक है। वीक्षा व्यापार द्वारा जब हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो अन्वीक्षा द्वारा प्राप्त उसके ज्ञान से वह सर्वथा पृथक होता है।

जिस वस्तु को हम सुन्दर समझते हैं, उसमे दो तत्व होते हैं—विषय वस्तु और प्रकाशभंगी। क्रोचे विषय-वस्तु को सौन्दर्य का कारण नहीं मानता। उसके अनुसार उसके काल्पनिक रूप द्वारा उत्पन्न प्रकाशभंगी ही सौन्दर्य का कारण है। प्रकाशभंगी के साथ मिलकर विषयवस्तु सौन्दर्य का कारण बन सकती है, पर अकेले कुछ भी नही कर सकती। वीक्षा वृत्ति द्वारा हम वस्तु का जो स्वरूप मानस में स्थिर करते है, उससे वस्तु का प्राकृतिक स्वरूप सर्वथा निरपेक्ष रहता है। इसलिए विषयवस्तु मे सौन्दर्य नही होता। अन्वीक्षा व्यापार में हम वस्तु के अंगों को पृथक-पृथक देखते है किन्तु वीक्षा व्यापार मे वस्तु की अखण्ड अनुभूति होती है। यह अखण्डता ही सौन्दर्य को उत्पन्न करती है।

वस्तु की जो अभिव्यंजना हमारे मानस में होती है उसको हम चार भागों मे बाँट सकते है—

१. **भीतरी संस्कार**—अन्वीक्षा व्यापार द्वारा प्राप्त वस्तु का ज्ञान।

२ **अभिव्यंजना**—वीक्षा व्यापार द्वारा प्राप्त उसका विशेष ज्ञान।

३. **सौन्दर्य**—वस्तु की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द।

४ **कल्पना**—शब्द, रंग, स्वर आदि के माध्यम से अनुभूति को जन-साधारण के लिए बोधगम्य बनाना।

इन चारो का सम्मिलित रूप ही काव्य मे अभिव्यंजनावाद कहा जाता है।

## समन्वयवादी दृष्टिकोण

कुछ ऐसे भी सौन्दर्यशास्त्री है जो सौन्दर्य को वस्तु का गुण और चित्त की अनुभूति दोनों मानते हैं। हम अपने दैनन्दिन जीवन मे देखते है कि कुछ वस्तुएँ हमारा ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसके विप-

रीत कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है जो एक मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है। यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्यों एक वस्तु सुखकर और दूसरी दुखकर प्रतीत होती है ? केवल ऐसा भी होता तब भी कहा जा सकता था कि प्रमाता की अन्तर्वृत्ति इसका कारण है। किन्तु हम देखते है कि जो वस्तु प्रमाता को मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है, उसमे कुछ परिवर्तन-परिवर्धन कर देने से सुखकर प्रतीत होने लगती है। किसी मूर्ति का दायाँ हाथ बाये की अपेक्षा बड़ा होगा तो अच्छा नही लगेगा, किन्तु संतुलन ठीक कर देने पर सह्य हो जाती है। ऐसी अवस्था मे वस्तु को सौन्दर्य से निरपेक्ष कहना तर्कसंगत नही। वस्तु में सौन्दर्य होता है जो कि उसके कुछ तत्वो से प्रतिफलित होता है। सौन्दर्य-बोध का एक और भी पक्ष है जिसे हम प्रमाता, आश्रय या ज्ञाता कहते है। कोई किसी वस्तु मे सौन्दर्य देखता है किन्तु दूसरा नही, अथवा देखता है तो पहले की अपेक्षा कम। इसका कारण है प्रमाता का अन्तर्जगत। जब हमारे अन्तर्जगत से बाह्य जगत मे स्थित प्रमेय एकाकार हो जाता है, तभी सौन्दर्य के आनन्द की उपलब्धि होती है।

## रूपगत सौन्दर्य

सौन्दर्य की परिभाषा स्थिर करने मे अथवा उसका वर्गीकरण करते समय हमने देखा कि सौन्दर्य मात्र चेतना का ही भाव नही है। जब वस्तु को देखकर भाव जगता है तो वस्तु से निरपेक्ष होकर उस भाव की कल्पना नितान्त असम्भव है। वस्तुतः सौन्दर्य का विधायक वस्तु का रूप भी है। वस्तु के रूप के कारण हमारी चेतना को आह्लादक अनुभूति होती है, जिसे हम सौन्दर्य-बोध कहते हैं। यह सौन्दर्य-बोध वस्तु में कुछ विशेष गुणो की स्थिति से सम्भव होता है। जिस प्रकार बाह्य-जगत मे सौन्दर्य का बोध वस्तुओ के रूप से होता है, ठीक उसी प्रकार कला अथवा काव्य मे भी होता है। बाह्य जगत में प्रकृति स्वयमेव इन वस्तुओं मे कुछ ऐसा गुण डाल देती है, जिससे हम उस वस्तु को सुन्दर कहने लगते है। कला मे हम जिसे रूप का सौन्दर्य कहते है, वह भोग के माध्यम से निर्मित होता है। उदाहरण स्वरूप प्राकृतिक कमल अपनी वर्ण-दीप्ति आदि के कारण हमे आकृष्ट करता है। इस आकर्षण मे हमे जो सुखानुभूति होती है उसे सौन्दर्य-बोध और माध्यम कमल को वस्तु कहते है। कल्पना कीजिए एक कागज के कमल मे विविध भोगों का उपयोग किया गया है। ये भोग अवयव और कमल अवयवी हैं। अवयव के संश्लिष्ट आकार से अवयवी का निर्माण हुआ है। इस प्रकार कलात्मक वस्तु का उसके भोगो

से पृथक अस्तित्व नही होता। किन्तु काव्य में स्थिति कुछ भिन्न होती है। स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि के समान काव्य का भोग स्थूल नही होता। संगीत के समान इसका भोग सूक्ष्म होता है। संगीत नाद और काव्य शब्द से निर्मित होता है। सौन्दर्य को यदि हम इन्द्रियबोध तक ही सीमित कर दें तो शब्द, अलंकार तथा छंद तक ही काव्य-सौन्दर्य सीमित रहेगा। किन्तु सौन्दर्य-बोध से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह मात्र इन्द्रिय बोध का आनन्द नही है। इसलिए काव्य-सौन्दर्य की स्थिति इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी सम्भव है।

काव्य के अध्ययन अथवा श्रवण से अर्थ-बोध होने पर आनन्द की प्राप्ति होती है। शब्द और अर्थ के माध्यम मे जिन वस्तुओं का वर्णन होता है, उसे ही हम उनका रूप कह सकते है। इस वर्णन मे ही काव्य का रूपगत सौन्दर्य निहित होता है। अलंकार-योजना, छन्द-विन्यास आदि को अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य की संज्ञा दी गई है। काव्य में वस्तु के रूप-वर्णन मे कल्पना वृत्ति का बहुत बड़ा सहयोग होता है। काव्य अपने कल्पना-व्यापार के सहारे ही वस्तु को रूपायित करता है। ठीक इसी प्रकार ग्रहीता को भी वस्तु का वर्णन कल्पना-व्यापार के माध्यम से ही सुलभ होता है। यह कल्पना-व्यापार ही वस्तु अथवा उसमे निहित भाव को ग्राह्य बनाता है।

सुन्दर वस्तु में सौन्दर्य निहित होता है। हम वस्तुओ में निहित आकर्षण के कारण उनसे मुग्ध ही नही होते अपितु उनको काव्य और कला में भी स्थान देते हैं। काव्य के माध्यम से सुन्दर वस्तुएँ मन के अन्दर आकर उसे रसार्द्र कर देती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सुन्दर-सुन्दर वस्तुओ या व्यापारो का मन में आना ही सौन्दर्य की भावना का जगना मानते है (रस मीमांसा पृ० २२१)। मन के अन्दर वस्तुओ के रूपविधान से ही सौन्दर्य-बोध होता है रूपविधान दो। प्रकार से हो सकता है—या तो प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तु का उसके मूल रूप में स्मरण करे अथवा अपने कल्पना-व्यापार से उसमे परिवर्तन-परिवर्धन कर दें। वस्तु का प्रत्यक्ष रूपविधान हमारी स्मृति के सहारे होता है और स्मृति रूप विधान कल्पना के सहारे। काव्य में जो रूपविधान होता है उसमें कल्पना का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इसे कल्पित रूपविधान कहा जाता है। काव्य मे वस्तु ठीक वैसे ही नहीं होती जैसा उसका प्राकृत रूप होता है। काव्यकर्ता अपने कल्पना-व्यापार से उसके मूल रूप को परिवर्तित कर देता है। वस्तु के परिवर्तित रूप मे जितनी मार्मिकता होगी उतना ही आकर्षण उत्पन्न होगा। वस्तु का कल्पित रूपविधान वस्तु के प्राकृतिक स्वरूप से सर्वांशत पृथक

नही हो पाता। प्रत्यक्ष रूपविधान हमारे मानस में बराबर स्मृति रूप-विधान के रूप मे संचित रहता है। कल्पित रूपविधान को ग्राह्य बनाने में प्रत्यक्ष तथा स्मृति रूपविधान सहायक होते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कवि किसी ऐसी वस्तु अथवा स्थान का रूप अंकित करता है जिसका उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नही। उदाहरण स्वरूप कृष्ण-राधा का रूप अथवा स्वर्ग। ऐसी वस्तु अथवा स्थान के वर्णन मे कवि का कल्पना-व्यापार प्रधान अवश्य होता है, फिर भी कल्पित रूप का आधार वे सुन्दर वस्तुएँ होती हैं जिनका उसने प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया हो। कवि के प्रत्यक्ष ज्ञान में चाक्षुष ज्ञान ही नही अपितु शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि का बोध भी सम्मिलित है। वस्तु के चित्रण मे उसका ध्वनि-बोध, गन्ध-बोध, रस-बोध और स्पर्श-बोध भी सहायक होता है।

प्रत्यक्ष जगत में हमे मानव और प्रकृति ये दो रूप दिखाई पड़ते है। मानव के भी दो रूप होते है—एक स्त्री और दूसरा पुरुष। भारतीय काव्य मे स्त्री के रूप के प्रति अधिक आकर्षण दिखाया गया है। स्त्री रूप और प्रेम की निधि मानी गई है। उसका बहिरंग जितना आकर्षक है, उतना ही अन्तरंग तरल। स्त्री विधाता की सुन्दरतम कृति है। फारसी काव्य मे आशिक की तड़पन अधिक दिखाई गई किन्तु भारतीय काव्य में प्रेमिका की। भक्ति-काव्य का पुरुष स्वयं ईश्वर है। ईश्वर पूर्ण होने से स्वयं सौन्दर्य की निधि है। उसके समक्ष स्त्री-सौन्दर्य फीका है। उसकी सहचरी आद्याशक्ति है। वह सौन्दर्य स्वरूपा है। सौन्दर्य इस दम्पति का ही प्रतिरूप है। प्रकृति को भी दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—एक जड़ रूप और दूसरा चेतन। जड प्रकृति में जल, थल और आकाश को समाहित किया जा सकता है और चेतन मे समस्त जीवधारी पशुपक्षी आदि को। मानव और प्रकृति मे जो कुछ हमारी आँखो को आकर्षक, कानो को प्रिय, हाथो को मृदु और मन को मधुर लगता है उसे हम काव्य मे रचने की चेष्टा करते है। रूपांकन के दो प्रकार हैं—एक प्रस्तुत रूप-विधान और दूसरा अप्रस्तुत रूप-विधान। प्रस्तुत रूपविधान काव्य का विभाव पक्ष है जिसके आलम्बन और उद्दीपन दो स्वरूप है। उद्दीपन का एक स्वरूप ( आलम्बन की चेष्टाएँ ) आलम्बन का ही अंग है। मानव और प्रकृति दोनो आलम्बन बन सकते है। जब मानव के प्रति प्रेम प्रदर्शित होगा तो मानव और जब प्रकृति के प्रति प्रेम प्रदर्शित होगा तो प्रकृति आलम्बन बन जायेगी। हिरण, मयूर, चातक, वन, पर्वत

सर-सरिता आदि के रूप मे प्रसरित अपार प्रकृति-सम्पदा केवल उद्दीपक ही नही है। ये हमारे भावों के आलम्बन भी बन सकते है। प्रकृति का अप्रस्तुत-रूप-विधान भी होता है। वस्तुओ का अलंकार के रूप में वर्णन अप्रस्तुत विधान है। राधिका के अंगों के उपमान रूप में कमल, हंस आदि का वर्णन अप्रस्तुत रूप-विधान है। काव्य के रूपगत सौन्दर्य के अन्तर्गत इन सबकी चर्चा होती है।

## भागवत सौन्दर्य

काव्य मे जैसे वस्तुओ के वर्णन से सौन्दर्य-बोध होता है, वैसे ही मनःस्थित वृत्तियों के कारण भी। कृष्ण का रूप जितना आकर्षक है, उतना ही राधा के प्रति उनका मनोभाव भी है। वस्तुतः सौन्दर्य केवल वस्तु मे ही नही अपितु वह अनुभूति मे भी होता है। जैसे आश्रय को वस्तु के कारण उत्पन्न अपनी अनुभूति से सौन्दर्य-बोध होता है, ठीक उसी प्रकार आलम्बन की विविध चेष्टाएँ भी उसको आकृष्ट करती है। हम अपने दैनन्दिन जीवन में किसी की चेष्टाओ से ही उसके मनोगत भावों को जान सकते है, किन्तु काव्यकर्ता कही तो पात्र के भावो को उसकी विविध चेष्टाओं से व्यक्त कर देता है और कही मात्र अनुभाव अथवा संचारी भावों का प्रदर्शन करता है। जहाँ काव्यकर्ता मात्र संचारी भाव अथवा अनुभाव का प्रदर्शन करता है, वहाँ रस-दशा तो स्वीकार नही की जा सकती। भाव-विभावानुभाव-संचारी-भाव के संयोग से रस-निष्पति होती है। फिर ऐसे स्थलो पर होता क्या है ? वस्तुतः ऐसे स्थल रस-बोध नहीं अपितु सौन्दर्य-बोध के होते है।

मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष को भाव कहते हैं। भावो के तीन अंग होते हैं—(अ) वह अग जो संस्कार रूप मे चेतना के अन्तराल मे रहता है। (ब) भाव का वह प्रकृत स्वरूप जो चेतना में स्थित रहकर विषय का बिम्ब ग्रहण करता है। (स) वह अग जो कायिक और सात्विक चेष्टाओ के रूप में व्यक्त होता है। उसके द्वारा ही चेतना अपेक्षित और गोचर वस्तु का बिम्ब ग्रहण करती है। यह बिम्ब-विधान कवित्व का प्राण है। वस्तुतः बिम्ब-विधान काव्य है, अर्थ-बोध मात्र नही। भाव का तीसरा अंग शारीरिक और आचरण-गत चेष्टाओं के माध्यम से मनःस्थित भावों को व्यक्त करता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रुपात, प्रलय जैसे सात्विक अनुभाव तथा कटाक्षपात, हाथ का झटकना-फटकारना, कूदना आदि सात्विक अनुभाव

आश्रय के रूप सौन्दर्य को बढ़ाते है। किन्तु सात्विक अथवा कायिक चेष्टाएँ एकाकी ही दिखाई जाने पर सौन्दर्य के स्थान पर विरूपता उत्पन्न कर सकती हैं। कवियों ने आश्रय की कायिक चेष्टाओ अथवा सात्विक अनुभावो को दिखाते समय उसके आवेगयुक्त वचनो को भी विशेष स्थान दिया है। आश्रय की आँखों की लालिमा ही दिखा दी जाय, उसके आक्रोश युक्त वचनों पर ध्यान न दिया जाय तो आँख आने का भ्रम हो सकता है। कभी-कभी दो-तीन अनुभावो को साथ-साथ दिखाने से भी अभीप्सित भाव की स्थिति दिखाई जा सकती है। उदाहरण स्वरूप आँखो की लालिमा जैसे कायिक अनुभाव के साथ ही रोमांच अथवा स्वर-भंग जैसे सात्विक अनुभावों को दिखाने से रौद्र की स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। अनुभावों का उद्भव चेतना में स्थित भावो के कारण होता है। इसलिए ये भाव के ही अंग माने जाते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेष को भाव कहा है।

संसार की नाना वस्तुएँ हमारे सम्पर्क में आकर चेतना को प्रभावित करती रहती है। ये प्रभाव ही अनुभूति बन जाते है और ये अनुभूतियाँ ही भाव रूप में परिणत हो जाती हैं। इन भावों में कुछ की अनुभूति सुखद और कुछ की दुखद होती है, किन्तु काव्य मे सभी भाव सुखद हो जाते हैं। करुण रस भी (जिसका स्थायी भाव शोक है) ग्रहीता को सुखद स्थिति में ही ले जाकर छोड़ता है। भावों में कुछ ऐसे है जिन्हें अमिश्र और कुछ ऐसे हैं जिन्हें मिश्र कहा जा सकता है। शोक, क्रोध आदि की अनुभूति अमिश्र है जब कि दया मिश्र भाव है। स्थायी भावो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये अपनी उपस्थिति के समय चित्त पर एकाधिकार रखते है। किसी स्थायी भाव की स्थिति के समय चित्त में जितने भी भाव आते हैं, वे सब भावों के ही सहायक होते है। सहायक के रूप में आने वाले भावो को संचारी भी कहा जाता है। भावो की एक अन्य विशेषता यह है कि आलम्बन के अभाव में उनकी स्थिति सम्भव नही। काव्य में भाव की अपने आप मे सत्ता क्या है? इनका प्रस्फुटन तो आश्रय के अनुभावों तथा संचारी भावों के द्वारा आलम्बन के प्रति होता है।

स्थायी भावों को पुष्ट करने के लिए बीच-बीच में कुछ संचारी भाव आते रहते हैं। ये आकर अपना प्रभाव दिखाकर स्थायी भावों में ही लुप्त हो जाते है। ये समुद्र की लहर का काम करते हैं। लहरें समुद्र में उठकर समुद्र

में ही लीन हो जाती हैं। इससे समुद्र की शोभा बढ़ती है। ठीक यही स्थिति संचारी भावों की भी है। ये आश्रय के अन्तरंग और बहिरंग सौन्दर्य को उभारने मे सहायक होते है। इनकी संख्या ३३ तक बताई गई है। इनमें कुछ संचारी भाव सुखात्मक, कुछ दुखात्मक, कुछ उभयात्मक और कुछ उदासीन है। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संतोष, चपलता, मृदुलता तथा धैर्य को सुखात्मक संचारी; लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिंता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असंतोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण और व्याधि को दुखात्मक संचारी; आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न और चित्त की चंचलता को उभयात्मक कहा गया है। वितर्क, मति, श्रम, निद्रा तथा विबोध उदासीन संचारी है।

## अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य

काव्य, स्व से पर की प्राप्ति है। उसके माध्यम से साहित्यकार अध्येता तक पहुँचता है। काव्यकार अपने मनोगत भावों को शब्द, छन्द, अप्रस्तुत योजना आदि के सहारे दूसरों तक पहुँचाता है। प्रेषणीयता काव्य का अपरिहार्य गुण है। साधारणीकरण का आधार प्रेषणीयता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने मूल्य-निर्धारण और प्रेषणीयता को आलोचना सिद्धान्त का दो प्रधान तत्व माना है। काव्य प्रेषणीयता के लिए ही स्वरूप-धारण करता है, अन्यथा उसकी कोई आवश्यकता ही नही। सर्वप्रथम काव्यकर्त्ता की चेतना मे कोई वस्तु भाव रूप मे परिणत होती है। कवि उसका आस्वादन करता है। साथ ही उसमें यह भी भावना जगती है कि अपनी अनुभूति को दूसरो तक भी प्रेषित करे। प्रेषण के लिए ही वह अपनी अनुभूति को शब्द, छन्द, अप्रस्तुत योजना आदि का आकर्षक रूप प्रदान करता है। शैली एवं भाषा-योजना, अलंकार-विधान, छन्द तथा लय आदि उपकरण काव्य के अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य के अन्तर्गत आते है।

काव्य के रसों के स्थायी भाव चेतन आत्मा के गुण है। उत्साह, क्रोध, रति आदि स्थायी भाव चेतन आत्मा से निःसृत होकर व्यक्त होते समय आकर्षक कलेवर अपना लेते हैं। उदाहरण स्वरूप शृंगारयुक्त स्थलों पर कोमल-कान्त-पदावली, रौद्र तथा वीर रस युक्त स्थलो पर ओज भरी भाषा दिखाई पड़ती है। ये गुण वर्ण के न होकर रस के हैं। काव्य की अन्तरात्मा रस ही इन गुणो का भी उद्बोधक है। स्थिति कुछ ऐसी होती है कि रस की प्रेरणा से उसके अनुकूल वर्ण स्वयमेव आ जाते हैं। ये वर्ण रस की पुष्टि करते

है। गुणों का रस से अनिवार्य सम्बन्ध माना गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्रज्ञात्मक और रागात्मक शैली के दो गुण माने है। प्रसाद और स्पष्टता प्रज्ञात्मक तथा शक्ति, करुण और हास्य रागात्मक गुण है। इसके अतिरिक्त माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली का गुण कहा गया है। आचार्य दण्डी ने दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण माना है। मम्मट ने बीसों को केवल ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणो में समेट लिया है। मम्मट का विभाजन इतना पूर्ण है कि पाश्चात्य विद्वानो के प्रज्ञात्मक रागात्मक तथा इसके अतिरिक्त गिनाये गए माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन नामक शैली के गुण उसी में आ जाते हैं। ओज गुण वीर, भयानक और वीभत्स रसो के अनुकूल है। 'ट' वर्ग का आधिक्य, 'ट' वर्ग से इतर वर्गों के प्रथम और तृतीय अथवा द्वितीय और चतुर्थ वर्णों से बने संयुक्ताक्षरों, 'र' के संयोग से बने अक्षरों एवं लम्बे समासो से ओज गुण उत्पन्न होता है। इसके विपरीत 'ट' वर्ग, वर्गों के प्रथम और तृतीय अथवा द्वितीय और चतुर्थ वर्णों से बने संयुक्ताक्षरों, 'र' से बने शब्दों अथवा लम्बे समासो के अभाव मे ही माधुर्य गुण लाया जा सकता है। शृंगार, करुण और शान्त रसों के अनुकूल यही गुण पडता है। प्रसाद गुण का मुख्य तत्व है स्पष्टता। जहाँ सीधे-सादे ढंग से बात इस प्रकार कही गई हो कि सुनते ही अर्थ हृदयंगम ही न हो अपितु चित्त को स्पर्श कर ले, वहाँ प्रसाद गुण होता है। यह गुण सभी रसों के अनुकूल है।

शैली के साथ ही भाषा का भी प्रश्न उठता है। वस्तुतः भाषा से ही शैली का निर्माण होता है। भाषा को यदि अंग कहा जाय तो शैली को अंगी। किसी कृति की भाषा के समवेत रूप से ही शैली का निर्माण होता है। इसी प्रकार यदि किसी कृति की शैली का विश्लेषण किया जाय तो भाषा उसके इकाई के रूप में दिखाई पड़ेगी। इस सम्बन्ध मे सबसे बड़ी बात यह है कि काव्य की भाषा कभी वही नहीं होती जो कवि बोलता या सुनता है। वह अपने समय की बोली से इस रूप में सम्बद्ध होता है कि इसकी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में श्रोता या अध्येता कह सकते है "यदि मैं कविता बोल सकूँ तो ऐसा ही बोलना चाहिए।" काव्य की भाषा दैनन्दिन जीवन की भाषा न होते हुए भी जनता से दूर नहीं रहती। इसी से समसामयिक साहित्य अतीत के साहित्य की अपेक्षा अधिक आह्लाद और संतोष प्रदान करता है।

भाषा की सर्वोपरि विशेषता है मूर्तिकरण। अगोचर भावनाओं को

इन्द्रियगम्य बनाने वाली भाषा सर्वश्रेष्ठ होती है। शब्द की अभिधा शक्ति इसके सर्व-स्वीकृत अर्थ को सबके सामने प्रस्तुत करती है, किन्तु अमूर्त भावनाओं अथवा विचारो को हम इसके माध्यम से मूर्त रूप नहीं दे पाते। शब्द की लक्षणा शक्ति के सहारे ही ऐसा सम्भव हो सकता है। लक्षणा शक्ति श्रोता या पाठक को केवल समाज प्रचलित अर्थ ही नही प्रदान करती अपितु उसके समक्ष नवीन अर्थ-राशि का उद्घाटन करती है। 'सुप्त व्यथा का जगना' तथा 'वेदना का करवट लेना' में क्रमश. व्यथा और वेदना लक्षणा शक्ति के सहारे मूर्त हो गई है। भाषा की दूसरी विशेषता है कि वह विशेष रूप और व्यापार सूचक शब्दों को ग्रहण करती है। उदाहरण स्वरूप 'कृष्ण' शब्द विष्णु के अवतार विशेष का बोधक है, जिसमें अनेकानेक गुण थे। 'कृष्ण' जाति संकेत वाला शब्द है जिसमें कृष्ण के रूप विशेष अथवा व्यापार विशेष का बोध न होकर व्यक्ति विशेष का ज्ञान होता है। किन्तु 'गिरिधर', 'मुरलीधर', 'नन्दलाल' आदि शब्दों से कृष्ण के व्यापार विशेष अथवा रूप विशेष का बोध होता है। 'सँभारहु अपने को गिरधारी' मे 'गिरधारी' शब्द कृष्ण की शक्ति और सामर्थ्य की ओर लक्ष्य करने वाला विशेष रूप तथा व्यापार का सूचक है। वर्ण-विन्यास भाषा की तीसरी विशेषता है। श्रुति-कटु शब्दो का त्याग काव्य-कर्ता को यथासम्भव करना चाहिए। नाद संगीत का प्राण है और लय काव्य का। ऐसी अवस्था में लय का निर्वाह करना कवि के लिए अपरिहार्य होता है। अन्त्यनुप्रास भी वर्ण-विन्यास के अन्तर्गत होता है। काव्य के अन्तरंग की अपेक्षा बहिरंग पर हमारी दृष्टि पहले जाती है। काव्य का बहिरंग आकर्षक होने पर अध्येता की दृष्टि उस ओर तुरंत जाती है। बहिरंग-सज्जा बहुत कुछ वर्ण विन्यास पर ही निर्भर होती है। भाषा के विचार में समास, सन्धि-मुहावरा तथा कहावतों का विचार भी अपेक्षित है। समास और सन्धि-प्रयोग से चेतना का विस्तार और उद्दीपन होता है। समास बहुल भाषा में विचारों का सघन गुम्फन होने के कारण उसकी प्राप्ति के लिए चेतना पर बल देना पड़ता है। इस प्रक्रिया में चेतना का विस्तार होता है। मुहावरों और कहावतो में समाज के अनुभव, विचार, धारणाएँ आदि एकत्र रहते है। मुहावरों और कहावतों के लघु आकार में बड़ी से बडी बातें समाई रहती है। इनका वैचित्र्य और उपयुक्तता श्रोता और अध्येता दोनो को अपनी ओर अनायास आकृष्ट कर लेते हैं।

काव्य मे समुचित वर्ण-विन्यास लय उत्पन्न करता है । लय के अभाव मे कविता कविता नहीं रह पाती है । कविता चाहे मुक्त छन्द में ही क्यो न लिखी गई हो, उसकी उत्कृष्टता की जाँच करने के लिए लय को भी उसके प्रधान तत्वों में मानकर निर्णय देना होगा । लय ही काव्य को गेय बनाता है और गेयता ही संगीत है । इस प्रकार काव्य और संगीत का निकट सम्बन्ध है । हाँ, यह दूसरी बात है कि काव्य को गेयता प्रदान करने के लिए द्रविण-प्राणायाम नहीं करना पड़ता । भारतीय संगीत का प्राण नाद माना गया है । उसके यमन, बिलावल, समाज, भैरव, पूर्वी, भरवा, काफी, होली, असावरी, भैरवी नामक दस प्रमुख राग होते है । दादरा, ध्रुपद, होली, ठप्पा, खयाल, तराना आदि गाने के ढंग है । दस प्रमुख रागों के कई उप राग और रागिनियाँ हैं । इनकी संख्या २०० तक है । राग विभिन्न गतियो में गाये जाते है । इनके गाने का समय भी निश्चित है । मध्यकाल के कुछ हिन्दी कवियों ( विशेषकर कृष्ण भक्तों ) ने अपने सम्पूर्ण काव्य के लिए गेय पद शैली अपनायी है । पदों को तो राग-रागनियो में बाँधा ही है, कुछ छंदों को भी राग-रागनियों में बाँध दिया है । काव्य को संगीत के इतने निकट, कृष्ण भक्तो को छोड़ और कोई भी न ले जा सका । ऐसा करने से काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि होती है ।

•

अलंकार-विधान अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य का प्रधान अंग है । अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म है । कहीं शब्दों के सजा देने से सौन्दर्य उत्पन्न होता है और कहीं अर्थ को सजा देने से । शब्दालंकार वर्णों की आवृत्ति, सयोग अथवा वक्रता में होता है । अर्थालंकार अनेक है । सामान्यतः इन्हे साम्य, विरोध और सन्निध्य नामक तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है । वैसे साम्य मूलक, विरोध मूलक, शृंखला मूलक, न्याय मूलक और गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक भेद भी किये गये हैं । साम्य मूलक अलंकारों मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु का अभेद, भेद, भेदाभेद, समता की प्रतीति, समता के भाव के साथ कुछ बातों का व्यंग्य और कभी-कभी समता के साथ वैचित्र्य दिखाया जाता है । दो वस्तुओं में जब कार्य-कारण के आधार पर विरोध दिखाया जाता है तो विरोध मूलक अलंकार होता है । शृंखला मूलक अलंकारों में वस्तुओं का क्रमबद्ध वर्णन होता है । न्याय मूलक अलंकारों में तर्क द्वारा, कही लोक-व्यवहार द्वारा और कही वाक्यों द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया जाता है । वस्तु मूलक अलंकारो में व्यंग्य पूर्वक बातें कही जाती हैं ।

## सौन्दर्य का क्षेत्र- विस्तार

सौन्दर्य-बोध वस्तु सापेक्ष है। वह एक ऐसा आधेय है जिसका आधार सुन्दर वस्तु है। सुन्दर वस्तु के अभाव में सौन्दर्यबोध की कल्पना ही निरर्थक प्रतीत होती है। कवि सुन्दर वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होता है। वस्तुएँ उसके मानस में आकर भावना रूप में परिणत हो जाती हैं। कवि के व्यक्तित्व का सम्बन्ध सुन्दर वस्तु से स्थापित होता है। वस्तु उसके व्यक्तित्व पर अधिकार करने की चेष्टा करती है और ग्रहीता का व्यक्तित्व उस वस्तु के अन्तः मे प्रवेश करने की चेष्टा करती है। सौन्दर्य-बोध की स्थिति का यही रहस्य है। वस्तु का हमारे व्यक्तित्व से पूर्णतया तादात्म्य तो सामान्यतया कम ही होता है। तादात्म्य रसानुभूति में ही कुछ क्षणों के लिए सम्भव हो पाता है। सौन्दर्य-बोध में अपनेपन का अनुभव होता रहता है। हम अपनेपन से अपना दामन छुड़ा नहीं पाते।

कवि दृश्य जगत में जिन वस्तुओं से आकृष्ट होता है उसमें सामान्यतया दो हैं—मानव और प्रकृति। मानव का मानव के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। एक वस्तु के दो अंग परस्पर खिचेंगे ही। सौन्दर्य का बोध जिसे होता है, वह मानव ही होता है। ऐसी अवस्था में अधिकतर आलम्बन के रूप में मानव का ही ग्रहण होता है। मानव के दो रूप होते हैं—एक स्त्री और दूसरा पुरुष। सृष्टि के आरम्भ में जब ब्रह्म एकाकी न रह सका तो उसने प्रकृति अथवा शक्ति को उत्पन्न किया। दोनों ने मिलकर सृष्टि को विविध रूप-रंग दिया। फिर तो भगवान के जितने भी मनोरम अवतारों की कल्पना की गई वे युग्म के रूप में ही सामने आये। सीता-राम, राधा-कृष्ण, पार्वती-महेश्वर, श्री-विष्णु आदि युग्मों की कल्पना की गई। भगवान का एकाकी अवतार प्रिय न हो सका। वस्तुत. स्त्री-पुरुष ही संसार की निधि है। एक का दूसरे के प्रति आकर्षण ही सृष्टि का रहस्य है। कुछ विचारकों ने सौन्दर्य का कारण यौन भावनाओं को बताया है। स्त्री, पुरुष की ओर आकृष्ट होती है और पुरुष स्त्री की ओर। पुरुषों ने काव्य को स्त्री के सौन्दर्य से गुम्फित कर दिया और स्त्री ने भी पुरुष के प्रति निरन्तर आकर्षण का अनुभव किया। किन्तु यौन-व्यापार को ही आकर्षण का कारण मान लिया जाय तो शक्ति-उपासना के सिद्धान्त पर पुनर्विचार की आवश्यकता प्रतीत होगी। चित्त की परिशुद्धता सौन्दर्य-बोध के लिए अनिवार्य तत्व है। ऐसी अवस्था में यौन-व्यापार को ही सौन्दर्य का कारण मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

छटे, घुँघराले भूरे बालों की प्रशंसा होती है। वेश-भूषा के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। धोती और ब्लाउज मे ही भारतीय नारी का सौन्दर्य निखरता है, पाश्चात्य नारियो की वेश-भूषा मे नहीं। चेष्टाएँ अथवा अनुभाव सभी स्थानो पर समान रूप से प्रिय होते है। कटाक्षपात, और अँगडाती देह-यष्टि तो सभी को प्रिय होगी। वह सीमा में बाँधी नहीं जा सकती।

## नारी-सौन्दर्य

आचार्य गोवर्धन ने सौन्दर्य, मधुर्य, कृशता, कोमलता, कान्ति, उज्ज्वलता और सुकुमारता को स्त्री शरीर का गुण माना है। इन्हीं गुणों के अनुसार स्त्री शरीर के उपमान भी ढूंढ निकाले गए। अलंकार-शेखरकार ने चन्द्रकला, कमलनाल, शिरीष, विद्युत-लता, कनक-लता, दमनक-यष्टि, दीप-शिखा को स्त्री शरीर का उपमान बताया है। पुष्पिता लता को भी स्त्री अंग का उपमान बताया गया है। ये सब उपमान, स्त्री शरीर का दर्शक पर जो समन्वित प्रभाव पडता है, उसका बोध कराते है। चन्द्रकला स्त्री शरीर की नैसर्गिकता, कान्ति, क्षीणता तथा शीतलता, कमल माधुर्य एवं ताजगी, शिरीष कान्ति, कोमलता तथा माधुर्य, विद्युत-लता नैसर्गिकता, द्युति और क्षीणता, कनक-लता एवं दीप-शिखा कान्ति, दमनक-देह-यष्टि तथा सपुष्पा-लता मासलता सुगंध, दीप्ति, उल्लास, माधुर्य एवं अलंकार का बोध कराते है। भारतीय कवियो ने स्त्री रूप को सदैव आनन्दप्रद कहा है। परवर्ती काल के कवि उसे 'पावक शर' भी कहने लगे। ऐसे उपमानों की योजना के समय कवि का ध्यान रूप की द्युति और हृदय पर पडे प्रभाव की व्यंजना करने की ओर रहा है। इसके अतिरिक्त भारतीय कवियो एवं लक्षणकारो ने स्त्री को उज्ज्वल अथवा गौरवर्ण का चित्रित किया है। श्यामलाग मे सौन्दर्य होता है, किन्तु वर्णन प्रायः गौर का ही किया गया है। इसी से नारी वर्ण के उपमान रूप में रोचन, स्वर्ण, केतकी को ही सामने लाया गया है। रोचन तथा स्वर्ण का रंग अरुण नहीं तो गुलाबी होता ही है। विद्युत का रंग बहुत कुछ सफेद होता है। कौड़ी श्वेत होती है और केतकी तथा हल्दी पीली। इस प्रकार काव्य मे नारी का रंग गुलाबी, श्वेत अथवा पीला माना गया है।

नारी शरीर के नख-शिख रूप को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—ऊर्ध्व भाग मे कण्ठ देश के ऊपर के अंग केश, ललाट, भ्रू, आँख, नाक, अधरोष्ठ, दन्त, कपोल और कण्ठ आते हैं। मध्यभाग में कण्ठ और कटि का मध्यवर्ती भाग आता है। यथा, बाहु, उरोज, रोमावली, त्रिवली, नाभि, कटि

आदि एवं निम्न प्रदेश में जाँघ, नितम्ब, उरु प्रदेश, पादांगुलि, पद-नख, गमन आदि का वर्णन होता है।

ऊर्ध्वांग में सबसे पहले केशों का वर्णन होता है। कोमलता, सघनता, कुटिलता तथा श्यामलता केशो के गुण है। केशों के इन्ही गुणो के अनुसार अन्धकार, शैवाल, मेघ, मयूर पुच्छ, भ्रमर, यमुना तरंग एवं नील कमल से इनकी तुलना की गई है। केशों की अति श्यामता के व्यंजक अन्धकार, मेघ, नील पत्थर और नील कमल हैं। काले लहरदार केशों का बोध भ्रमर और यमुना तरंग से तथा सघनता का बोध शैवाल और चमर से होता है। वेणी का उपमान सर्प और असि है और जूड़े का राहु। वेणी को सर्प और मुख को चन्द्रमा कहकर कवियों ने न जाने कितने चमत्कार दिखाए हैं। ललाट को संकीर्ण एवं कान्तियुक्त होना चाहिए। इन्हीं दोनो गुणों को ध्यान में रखकर कवियों ने इसे अर्धचन्द्र अथवा स्वर्ण-पट्टिका कहा। परवर्ती काल के कवियो ने इसे द्वितीया का चन्द्रमा भी कहा है। यह उपमान भाल की अत्यन्त संकीर्णता का द्योतक है। कपोल की कान्ति एवं स्निग्धता के कारण उसके उपमान रूप मे चन्द्रमा और शिरीष को ग्रहण किया।

नारी के अंगो मे नेत्र आकर्षण के प्रधान विषय रहे है। किसी के रूप का बोध आँखों के माध्यम से ही होता है और किसी की आँखों में ही सौन्दर्य का अधिकांश भाग दिखाई पडता है। नेत्रों को विशाल, स्निग्ध, चंचल, सुदीर्घ और कटाक्षयुक्त होना चाहिए। मृगनयन, कमल, कमलपत्र, मीन, खंजन, चकोर, केतकी, अलि और शर नेत्रों के उपमान है। ये विविध उपमान नेत्रो के विविध गुणों के बोधक हैं। मृगनयन, मीन, खंजन, चकोर और अलि से आँखो की श्यामता, चंचलता और सुदीर्घता की व्यंजना होती है। कमल और कमलपत्र नेत्र की उत्फुल्लता तथा स्निग्धता और शर कटाक्ष का अनुभव कराते हैं। नेत्र के रंग का बोध कराने के लिए अमृत, हलाहल, कुदुम, कमल, उषा, संध्या आदि उपमान रूप में ग्रहण किए गए है। कामलता, धनु, वीचि आदि भ्रू के उपमान है। इनके माध्यम से भ्रू के आकर्षक, तिर्यक और आक्रामक स्वरूप को साकार किया जाता है। कवियो ने कभी भ्रू और नयन के समन्वित प्रभाव का वर्णन किया है और कभी उनका एकाकी। रंगों में भी कभी एक ही और कभी उनके सम्मिलित प्रभाव की चर्चा की गई। नेत्रों के श्वेतांश के चितवन को श्वेत कमल की वर्षा और अरुणिम को लाल कमल की वर्षा से व्यंजित किया गया। उनसे कभी अमृत की वर्षा कराई गई, कभी

मदिरा-पान कराया गया, कभी गले के नीचे हलाहल उतारा गया और कभी तीनों का समन्वित प्रभाव निरूपित किया गया ।

नासिका का उपमान अलसी का फूल है । इसमे सुकुमारता और माधुर्य तो अवश्य होता है, किन्तु उसका अग्रभाग आवश्यकता से अधिक फैला होता है । इसी से दोनों की समता कुछ खटकती है । अनुमानतः इन सब बातों को ध्यान में रखकर कुछ कवियो ने इसे कीर की चोंच अथवा मदन-वंशी कहा है । अधरों के तीन गुण बताए गए है—माधुर्य, स्फीति और लालिमा । अधरों के इन्ही तीनो गुणों को स्पष्ट करने वाले प्रवाल, बिम्बा, बन्धूक, पल्लव तथा अन्य माधुर्य युक्त वस्तुओ का उपमान रूप में प्रयोग किया जाता है । प्रवाल से अधरों की लालिमा, बिम्बा से लालिमा तथा स्फीति, पल्लव से माधुर्य, स्फीति और लालिमा तीनो गुण व्यंजित किये जाते हैं । बन्धूक अधरो की प्रफुल्लता, अरुणिमा और क्षीणता बताता है । दांतों की संख्या बत्तीस है । इन्हें श्वेत और अत्यन्त दीप्तियुक्त होना चाहिए । दो दाँतो का अन्तराल अथवा उनका अधोभाग किंचित् लाल होना चाहिए । परवर्ती काल के कवियो ने लालिमा के स्थान पर कालिमा का वर्णन किया । यह मिस्सी का प्रभाव था । दाँतों की दीप्ति का वर्णन करने के लिए मुक्ता, माणिक्य और तारा, अधोभाग की लालिमा के लिए नारंगी और अनार के बीज एवं नुकीलेपन के लिए कुन्दकली को उपमान बनाया गया । वाणी में माधुर्य, स्पष्टता और कोमलता होनी चाहिए । हंस, भ्रमर, शुक, किन्नर, वेणु, कोकिल, वीणा आदि की ध्वनि को वाणी का उपमान कहा गया है । लगभग इन सभी उपमानों में वाणी के तीनों गुण—माधुर्य, स्पष्टता और कोमलता विद्यमान है । नारी के हास की ज्योत्स्ना, इन्दु, पुष्प, अमृत के फेन और कुमुद से तुलना की गई है । हास में अधर खुल पडते हैं और दन्तावलि झलक जाती है । अधरो के कारण हास की तुलना पुष्प से की गई है और दाँतों के कारण ज्योत्स्ना, इन्दु और कुमुद से । हास का श्रोता पर जो सुखकर प्रभाव पड़ता है, उसकी व्यंजना के लिए उसे अमृत का फेन कहा गया । कण्ठ का दीर्घ और त्रिरेखा युक्त होना सौन्दर्य का द्योतक है । रेखाओं के कारण कण्ठ की तुलना शंख और मासलता के कारण कपोत-कण्ठ से की जाती है । कण्ठ के उपमान रूप में शंख अधिक युक्तियुक्त दिखाई पड़ता है । उससे कण्ठ की सुडौलता, रेखांकित रूप, झंकार युक्त ध्वनि आदि सभी का बोध हो जाता है ।

स्त्री शरीर के मध्य भाग में हाथों पर सबसे पहले दृष्टि जाती है । आचार्य गोवर्धन ने समानता, अत्यधिक कोमलता, शीतलता और लालिमा

के हाथों की विशेषता माना है। हाथ के भी बाहु, हथेली, उँगलियाँ और नख ये चार भाग हैं। उनके उपमान स्वरूप विभिन्न अप्रस्तुतों का कवियो ने चयन किया है। विद्युल्लता, मृणाल, वल्लरी, लहर, पाश, शाखा आदि से बाहुओं की समता दिखाई गई है। आभूषणों से अलंकृत गौर वर्ण के बाहो की समता विद्युल्लता से दिखाई गई। मृणाल, लहर और वल्लरी उनकी क्षीणता को व्यंजित करते है। शाखा माँसल बाहों का उपमान है और पाश बाहुओं के प्रभाव को व्यंजित करते है। हथेली की अरुणिमा और कोमलता का बोध कराने के लिए कमल और कमल-पत्र को उसका उपमान बनाया गया है। उँगलियों की लालिमा देखते हुए उनकी समता प्रवाल-शाखा से दिखाई गई। हाथ के नखों की दीप्ति, लालिमा और सुडौलता की व्यंजना के लिए चन्द्रकला, कुंद-कोरक और लाल पुष्प उपमान बने।

स्त्री शरीर के मध्य भाग में उरोजों का सर्वप्रमुख स्थान है। स्त्री के रूप चित्रण मे कवियों की दृष्टि इसके सौन्दर्य चित्रण में अत्यधिक रही। स्तनो के अग्रभाग को श्याम तथा शेष भाग को पीला होना चाहिए। ये उन्नत और प्रशस्त हो। कठोरता इनका विशेष गुण है। उरोज के इन्ही गुणों को ध्यान में रखकर पुंगीफल, कमल, कमल कोरक, श्रीफल, ताल-गुच्छ, हाथी का कुम्भ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, बेल, नीबू, चकोतरा, पिटारी आदि को उसका उपमान बनाया गया। श्यामाग्र, प्रशस्त और उन्नत उरोजों का सूचक हस्तिकुम्भ और शिव है। किन्तु इन उपमानो से शेषांश की पाण्डुता ध्वनित नही होती। कमल कोरक उरोजों के उन्नताग्र भाग तथा नीबू, चकोतरा, सुपारी आदि उसकी कठोरता के सूचक हैं। बेल, कुम्भ और पिटारी से कठोरता और प्रशस्तता व्यंजित होती है। ताल-गुच्छ माँसलता तथा चक्रवाक उनके उद्वेलित रूप का सूचक है। कमल का चयन उरोजों के प्रशस्त रूप और आह्लादकर प्रभाव का बोध कराने के लिए किया गया है। पहाड उन्नतता, प्रशस्तता तथा कठोरता का सूचक है। स्तनों के विषय में एक परम्परा प्राप्त मिथ्या धारणा है कि वे अत्यधिक कठोर होते हैं। वस्तुतः बात कुछ ऐसी नही। केवल आकार-प्रकार की समता के लिए बेल, सुपारी आदि को उपमान बनाया गया। स्तनों के निम्न-प्रदेश से उठ कर नाभि-देश तक गई हल्की रोमावली का भी कवियों ने अत्यधिक वर्णन किया है। मृदुता, सूक्ष्मता, श्यामता और नाभिगामिता—ये चार गुण रोमावली के हैं। शैवाल, धूम्र- भृंगलता आदि से रोमावली की तुलना की गई है। त्रिवली सौन्दर्य

। चिह्न है। इससे कटि और वक्ष प्रदेश की सूक्ष्मता ज्ञात होती है। नदी, ी तरंग, सोपान आदि त्रिबली के उपमान है। नाभि को गम्भीर और प्रशस्त ोना चाहिए। रसातल, आवर्त, कूपनद आदि नाभि के उपमान हैं। ये उपमान ुसके गाम्भीर्य तथा प्रशस्तता के ही सूचक है।

स्त्री शरीर के मध्य-भाग में कवियों ने कभी-कभी पीठ का भी वर्णन किया है। सामान्यतया स्त्री शरीर के अग्रभाग का ही वर्णन होता है, यदाकदा पीठ का भी वर्णन हो जाता है। पीठ को प्रशस्त और कान्ति युक्त होना चाहिए। इसी से इसे कंचन-पट्टिका कहा गया है। स्त्री-अंगों मे कवि कटि की ओर अधिक आकृष्ट रहे। कटि का मात्र गुण है सूक्ष्मता। इसी से इसे सूई की नोक, शून्य, अणु वेदी, सिंह की कटि और मुट्ठी में आ जाने वाली कहा है। कटि के उपमानों में अधिकांश अत्युक्ति पर ही टिके हैं। कटि क्षीण होती है, किन्तु सूई की नोक सी नही। इतना ही नहीं कवियों ने इसे शून्य भी कह दिया है। सिंह कटि को उपमान रूप मे लाकर सौन्दर्य-बोध नही कराया जा सकता। सिंह कटि रमणी में रमणीयता की अपेक्षा वीभत्सता और भय अधिक उत्पन्न करती है।

कटि प्रदेश के निम्न भाग में सबसे पहले जघन आते हैं। जाँघ मे कान्ति, सुडौलता, नाति-दीर्घता, अत्यन्त मृदुता और शीतलता होनी चाहिए। इन्ही गुणों के कारण जाँघ को पुलिन कहा गया है। उरु की समता हाथी के सूंड़ और कदली से की गई है। इन उपमानो के लक्षण को देखते हुए सुचिक्कणता, सुडौलता, माँसलता आदि उरु-प्रदेश के अपेक्षित गुण हैं। नितम्ब प्रदेश को माँसल, समुन्नत और प्रशस्त होना चाहिए। इन्ही गुणों के कारण नितम्ब की तुलना पीढ़े, प्रस्तर, पृथ्वी, चंद्र आदि से की गई है। पीढ़े, प्रस्तर और पृथ्वी नितम्ब की प्रशस्तता को प्रगट करते हैं। चरणों की अरुणिमा, स्निग्धता और कोमलता को दृष्टि मे रखकर उसे पल्लव, कमल, स्थल-पद्म और प्रवाल के समान कहा गया है। अँगूठे के नख की द्युति के कारण पूर्णेन्दु से समता की गई है। नारी की चाल मंथर होती है। नारी के गमन को हंस और हस्तिवत कहा गया है। नूपुर-ध्वनि की मुखरता और सरसता के कारण इनकी हंस और सारस की ध्वनि से तुलना की गई है।

स्त्री अंगों की जो विशेषता गोवर्धन आदि आचार्यों ने निरूपित की है, उन्ही के अनुरूप कवि बराबर उनका वर्णन करते रहे। कुछ कवियों और लक्षणकारों ने अंगों के इन गुणों को ध्यान में रखकर चयन किया। बाद मे

ये उपमान रूढ़ हो गए। परवर्ती काल मे सामान्यतया कवियो का ध्यान अगो की विशेषताओं की ओर से उठ गया। ये रूढ़ उपमान ही शेष रहे।

## पुरुष-सौन्दर्य

भारतीय साहित्य मे स्त्री की अपेक्षा पुरुष-सौन्दर्य की चर्चा अधिक हुई है। भक्ति काल मे ईश्वर को स्वयं पुरुष का अवतार माना गया। वह सौन्दर्य, शक्ति और शील की निधि था। भगवान के अवतारों में प्रायः तीनों गुणो का अथवा एक का अधिकाश मे आरोपण किया गया। वैसे पुरुष का मूल गुण है पौरुष। पौरुष ही शक्ति का सत्व है। भगवान के अवतारो मे भी अधिकाश शक्ति-प्रधान ही रहे। किन्तु बल्लभाचार्य जी द्वारा प्रवर्तित पुष्टि सम्प्रदाय मे भगवान को शक्ति की अपेक्षा सौन्दर्य से समन्वित अधिक दिखाया गया। पुष्टि सम्प्रदाय ने माधुर्य युक्त भगवान की मूर्ति की भी कल्पना की। कृष्ण को कोमलांग माना गया।

लक्षणकारो ने पुरुषांग मे भाल, आँखो, दोनो भुजाओं, वक्ष, स्कंध, हृदय, कटि, पद, गमन आदि को विशेष आकर्षक माना है। पुरुष की भुजाओ को मासल, लम्बी एवं शक्ति-सम्पन्न होना चाहिए। भुजगेन्द्र, दण्ड, स्तम्भ और हस्ति-सुण्ड से इनकी तुलना की गई है। भुजगेन्द्र बाहु की प्रलम्बता और शक्तिमत्ता, दण्ड प्रचण्डता, स्तम्भ दृढ़ता और हस्ति-सुण्ड मांसलता ध्वनित करते है। पुरुष के वक्ष-प्रदेश को उन्नत और प्रशस्त होना चाहिए। लक्षण-कारों ने इसे कपाट और शिला-पट्ट कहा है। इन उपमानों से वक्ष की प्रशस्तता और शक्तिमत्ता स्पष्ट है। पुरुष के स्कन्ध को विपुल, कटि को क्षीण और पद को उन्नत होना चाहिए। पुरुष स्कन्ध की समता वृषभ स्कन्ध से की गई है। प्रशस्त और उन्नत वक्षस्थल पर क्षीण कटि, पुरुष के सौन्दर्य को द्विगुणित करती है। पुरुष की आँखों को भी स्त्री-नयन की तरह प्रान्त-भाग मे किंचित् अरुणिमा युक्त कहा गया है।

पुरुष के वक्षस्थल को नारी के हृदय-देश के समान अत्यन्त स्वच्छ होना चाहिए। इसके मुख पर कान्ति होनी चाहिए। यह सौन्दर्य का सूचक है। इसके अतिरिक्त राजाओ का वर्णन करते समय हाथ मे पद्म की ऊर्ध्वरेखा तथा पंद मे छत्र और ध्वज का वर्णन कवियो ने किया है। उसके गमन की मंथरता के कारण हस्ति और सिंह के गमन से तुलना की गई है। राजा के प्रताप का उपमान अग्नि, सूर्य और बज्र है। ये उसकी प्रचण्डता स्पष्ट करते है। उसके यश को चन्द्रमा के समान शुभ्र कहा गया है।

पुरुष के उपयुक्त गुण उसके पौरुष को स्पष्ट करने वाले है। किन्तु हिन्दी के मध्यकाल में जब काव्य का नायक ऐसा पुरुष बना जो भगवान का अवतार था, तो सम्प्रदाय की मान्यताओ के अनुसार उसका स्वरूप भी निर्मित हुआ। पारम्परिक मान्यताएँ समाप्त हो गई। अब वह पौरुष का ही प्रतीक नही अपितु शक्ति, शील और सौन्दर्य की मूर्ति था। कृष्ण तो केवल सौन्दर्य स्वरूप है। उनका किशोर और बालरूप आराध्य बना था। इन दोनों स्वरूपो मे सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी गुण का आरोप नही हुआ। परिणाम यह हुआ कि उसे अधिकाधिक सौन्दर्य-सम्पृक्त करने के लिए स्त्री अंगो के गुणो और उपमानों का भी उस पर आरोप किया गया।

## शीलगत सौन्दर्य

दैनन्दिन ससर्ग मे आने वाली वस्तुओ के कारण मनोभाव उत्पन्न होते है। कुछ अनुभूतियाँ दुखात्मक होती है और कुछ सुखात्मक। सुख और दुख की अनुभूति के आधार पर ही भावो की अलग-अलग कोटियाँ हो जाती हैं। आलंकारिक इन्ही को भय, घृणा रति आदि नामो ने अभिहित करते हैं। हमारी ये ही अनुभूतियाँ हममें जाने-अनजाने चेष्टाएँ उत्पन्न करती रहती है। बाह्यजगत में हम जिन क्रियाओ का सम्पादन करते हैं, वे इन अनुभूतियो से ही प्रेरित होती हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, मानव स्वप्न मे अपनी इच्छाओ की पूर्ति करता है। जिन मनोभावो की पूर्ति वह चेतनावस्था में नही कर पाता, उनकी पूर्ति या तो वह अर्ध चेतनावस्था में करता है अथवा सुप्तावस्था मे। किसी वस्तु के संसर्ग से जो अनुभूति ग्रहीता के मन में उत्पन्न होती है, वह किसी न किसी रूप में उसके अन्तस्थ मे अपनी पूर्ति तक बनी रहती है। ये भाव हमारी चेष्टाओं को नियंत्रित करते रहते है। भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही शील या चरित्र का मूल है। (चिन्तामणि-भाग १, पृष्ठ ५)।

काव्य मे जैसे वस्तु और भाव मे सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, ठीक वैसे ही पात्रों के क्रिया-कलाप में भी। किसी व्यक्ति के अन्तः और बाह्य रूपों को देखने के पाश्चात् ही हम उसका मूल्य आँकने मे सफल होते हैं। प्रबन्ध-काव्यो की गरिमा नायक के क्रिया-कलाप पर बहुत कुछ निर्भर होती है। शील के अभाव में बाह्यांगो से सुंदर व्यक्ति भी मर्म को नहीं स्पर्श कर पाता। उदाहरण स्वरूप शूपर्णखा का सुन्दरी रूप उसके कर्मो की

नीचता को देख विरक्ति उत्पन्न कराता है। इसके विपरीत यदि किसी विकलांग की दानवीरता अथवा दीनबन्धुत्व दिखाया जाय तो वह सुंदरतर लगेगा। शीलगत सौन्दर्य के अभाव में किसी भी चरित्र का सौन्दर्य पूर्णतया निखर नहीं पाता।

## प्रकृति और सौन्दर्य

अरस्तू ने काव्य को अनुकरण माना है। अनुकरण में सौन्दर्य नहीं होता है। उसके अनुसार प्रकृति में सौन्दर्य होता है और जब उसका वर्णन काव्य में होता है तो अनुकरण होने के नाते वह सौन्दर्यमय होता है। अरस्तू से प्रभावित मध्ययुग के कुछ विचारकों ने भी प्रकृति मे सौन्दर्य का अभाव देखा है। यों प्रकृति सौन्दर्य-हीन नही अपितु श्री-युक्त है। मानव के समान प्रकृति के भी कुछ व्यापार होते है। इन व्यापारों के आधार पर ही अप्रस्तुत की योजना की जाती है। लतिका के संचरण और कामिनी की अंग-भंगिमा, शफरी के उद्वेलन और कटाक्षपात मे समानुरूपता दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु के संसर्ग से जो अनुभूति उत्पन्न होती है, वह भावरूप मे अन्तस्तल में विद्यमान रहती है। ये भाव एकत्र होकर हमारी चेष्टाओं पर नियंत्रण स्थापित करते हैं। इस प्रकार हमारे भावों के निर्माण मे प्रकृति का बहुत बड़ा हाथ है। इसके अतिरिक्त मानव की चेष्टाओ के सदृश प्रकृति मे भी हम चेष्टाएँ देखते है। इससे यह सिद्ध है कि प्रकृति में सौन्दर्य है।

प्रकृति के विषय में १९वी शताब्दी में हीगेल और वर्तमान युग मे क्रोचे के द्वारा मान्यताएँ पुनः परिवर्तित हुई। हीगेल के अनुसार, मनुष्यकृत रचनाओ में ही सौन्दर्य है। क्रोचे तो प्रकृति में भी नहीं अपितु अभिव्यंजना में ही सौन्दर्य मानता था। वह प्रकृति और इसकी यथार्थ प्रतिकृति ( फोटोग्राफिक ) मे सौन्दर्य का अल्पांश भी नहीं मानता था। कल्पना द्वारा ग्रहीत उसके संशोधित, परिवर्धित अथवा परिवर्तित रूप में सौन्दर्य होता है। किसी चित्र अथवा शब्द को क्रमशः देखने अथवा पढ़ने के पश्चात् हमारी कल्पना व्यापार को उत्तेजना मिलती है। कल्पना मे प्रतीयमान उसके रूप से हमें सौन्दर्य-बोध होता है। किन्तु एक बात समझ मे नहीं आती कि यदि हम किसी चित्र अथवा काव्य के माध्यम से उसके मूलरूप की कल्पना कर आनन्दित हों तो उस वस्तु की बाह्य-सत्ता को क्यों अस्वीकृत किया जाता है ? जब वस्तु के आधार पर कल्पित उसका रूप सत्य है तो बाह्य जगत मे

दिखाई पड़ने वाले पेड़-पत्ते, लता-गुल्म आदि प्रकृति के उपादान भी सत्य है। इनकी बाह्य-सत्ता के अभाव मे ग्रहीता के अन्तर्जगत में इनका काल्पनिक रूप प्रतिभासित ही नही हो सकता। ग्रहीता यदि किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करता है जिसकी सत्ता जगत मे नहीं है तो उसे आनंद की वैसी उपलब्धि नही हो सकती जैसी प्रत्यक्ष-जगत में स्थित वस्तु की कल्पना से होती है। वस्तुतः आधार के अभाव में आधेय की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

रस्किन ने बाह्य और मानस-सौन्दर्य को अलग माना है। कवि द्वारा अंकित छवि की बाह्य वस्तु से समानुरूपता होनी चाहिए। बाह्य और कल्पित वस्तु की समानुरूपता ही कला में सत्य नाम से अभिहित की जाती है। इस सत्य से दूर होने पर कला आकर्षणहीन हो जाती है। कोई वस्तु चक्षु के माध्यम से हमारे अन्तर्जगत मे उतर कर भाव रूप में परिणत हो जाती है, फिर वह व्यक्त होते समय हमारे कल्पना-जगत से रससिक्त की जाती है। हमारे अन्तर्जगत से अनुप्राणित होते हुए भी यदि वर्ण्य-वस्तु जगत में प्रतिभासित अपने यथार्थ रूप से एकदम असम्पृक्त हो तो आनंद-हीन लगेगी। रस्किन प्रकृति के व्यक्त रूप को बराबर महत्व प्रदान करता रहा। उसका स्पष्ट मत था कि प्रकृति के यथार्थ से पृथक होते ही कला सौन्दर्यहीन हो जाती है। किन्तु लता-गुल्म, नदी-निर्झर आदि प्रकृति के नाना रूपों में सौन्दर्य देखने के लिए हममें सहृदयता अपेक्षित है। इन वस्तुओ के प्रति दर्शन से मन से जितनी कोमल भावना होगी, वस्तु उतनी ही सुन्दर लगेगी।

मानव अपने उद्‌भव-काल से ही प्रकृति के साहचर्य में रह रहा है। मानव और प्रकृति परस्पर इतने घुल-मिल गये है कि उन्हे एक दूसरे से पृथक करके देखा ही नहीं जा सकता। प्रकृति ने मानव-मन को छू ही नही लिया है अपितु वह मन मे पैठ गई है। प्रकृति मानव के राग-विराग की बराबर साझेदार रही। दोनो के इस सान्निध्य के कारण काव्य के अन्तर्गत प्रकृति को समुचित स्थान मिला। लता-वृक्ष, नदी-नद, सरिता-सागर, पशु-पक्षी आदि प्रकृति के सभी उपादान काव्य के वर्ण्य-विषय बने। जिन प्राकृतिक वस्तुओं का रूप मानव के चक्षु द्वारा ग्रहीत हो सकता है, केवल उनका ही काव्य में वर्णन नही हुआ, अपितु रस, गंध, स्पर्श और घ्राण द्वारा जिनका भी वह अनुभव करे, उन सभी को काव्य में स्थान देने का

प्रयास किया। कवियों ने गुलाब के चिटकने, पहली बार जोती हुई धरती की गंध, पशुओं द्वारा चरे जाने पर घास से उठती हुई गंध आदि का भी वर्णन किया है।

काव्य मे प्रकृति का विविध प्रकार से उपयोग होता है—यथा आलम्बन, उद्दीपन और अलंकार-योजना के रूप मे अथवा मानवीकरण और प्रतीक-योजना भी की जाती है। प्राकृतिक उपादानो के माध्यम से रहस्यात्मक भावो की अभिव्यक्ति तथा उपदेश भी दिये जाते हैं। कभी-कभी मानव के किसी विचार अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का आधार रूप मे उपयोग होता है। यों प्रकृति का प्रायः आलम्बन और उद्दीपन तथा अप्रस्तुत रूप मे प्रयोग अधिक होता है। नाना रूपात्मक जगत मे प्रसारित प्रकृति-सम्पदा कभी हमारे भावों का आलम्बन बन जाती है और कभी इसे उद्दीप्त करती है। हमारे भावो का विषय कीट-पतंग; जड-चेतन, पशु-पक्षी आदि सभी कुछ हो सकते हैं। कुछ लोग प्रकृति के भव्य रूपों मे ही आकर्षण ढूंढा करते हैं। पर प्रकृति के भव्य रूपों की अपेक्षा छोटे और सामान्य रूपो में भी दर्शक का चित्त रम सकता है। प्रकृति के जिन प्राकृतिक वस्तुओ से हम खूब परिचित है, जो हमारे दैनन्दिन जीवन की सहचरी है, उसका आकर्षण कम नही होता। साहचर्य का ही प्रभाव है कि स्थान-विशेष के कवियों को वहाँ की प्रकृति जितनी प्यारी लगती है, उतनी अन्यत्र की नहीं। इन विषयों का अनुभव कवि रूप, गंध, स्पर्श आदि से कर बिम्बविधान की चेष्टा करता है। वस्तु के प्राकृतिक स्वरूप को चित्रित कर देना स्वभावोक्ति अलंकार होता है, किन्तु विषय के आलम्बनवत वर्णन में वस्तु कवि के भावो से अनुप्राणित रहती है। जिसे वस्तु के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन कहा जाता है, उसमे भी भावों का आलम्बन अथवा उद्दीपन बनने की क्षमता होती है। स्वभावोक्ति मे अप्रस्तुत-विधान के लिए अवकाश का लगभग एकदम अभाव होता है। स्वभावोक्ति मे प्रस्तुत विषय के स्वाभाविक रूप और चेष्टाओ का वर्णन ही कवि का साध्य होता है। ऐसी अवस्था मे स्वभावोक्ति को अलंकार मानना भ्रम है।

उद्दीपन, विभाव का एक अग है। आश्रय को आलम्बन की चेष्टाएँ अथवा चतुर्दिक का वातावरण उद्दीप्त करता है। चतुर्दिक के वातावरण में प्रकृति भी आती है। शृगार रस की संयोग और वियोग दोनो अवस्थाओ में प्राकृतिक वस्तुएँ आश्रय के भावों को उद्दीप्त करने मे अत्यधिक कार्यरत रहती हैं। आश्रय अपनी मानसिक स्थिति का आरोप प्रकृति पर

कर उसे सुखकर अथवा दुखकर घोषित करने लगता है। वस्तुतः ये वस्तुएँ अपने मौलिक रूप में आनंदप्रद ही होती है। अलंकार-विधान मे अप्रस्तुत का चयन अधिकांशतः प्रकृति से किया जाता है। प्रकृति का आलम्बनवत् वर्णन भावक्षेत्र का विषय है। उद्दीपन रूप में वह भावक्षेत्र से कुछ हट जाता है और प्राकृतिक वस्तुओं का अप्रस्तुत रूप में वर्णन तो उन्हें भावक्षेत्र से एकदम दूर कर देता है। अप्रस्तुत रूप में आये हुए प्राकृतिक उपादान इतने रूढ़ होते हैं कि उनके द्वारा सांकेतित विशेषताओं की ओर ही यत्किंचित पाठक का ध्यान आकृष्ट होता है। उपमेय के सामने उपमान पर ध्यान देने का अवकाश ही नही रहता। वर्ण्यवस्तु के समकक्ष जो दूसरी वस्तुएँ लाई जाती है, उनका प्रयोजन वर्ण्यवस्तु के आकर्षण को द्विगुणित करना होता है। इसी से अप्रस्तुत-योजना वहीं तक उचित होती है, जहाँ तक कि वह वर्ण्यवस्तु की सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक हो। प्रस्तुत वस्तु के बिम्ब-ग्रहण में व्यवधान डालने वाली अप्रस्तुतों की अतिशयता भी उचित नहीं समझी जाती है।

मानवीकरण अंग्रेजी का अलंकार है। इसके अंतर्गत प्रकृति को मानववत् चित्रित किया जाता है। मानवीकरण में रूपक अलंकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सहायक होता है। प्रकृति का मानवीकरण एक प्रकार से उसका आलम्बवत् चित्रण है। भिन्नता केवल इतनी सी है कि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत मानव के व्यापारो का आरोप कर दिया जाता है। प्रतीक-विधान में प्रकृति मानव के सुख-दुख आदि व्यापारों की सूचक बन जाती है। उदाहरण स्वरूप चाँदनी मानव के हास या प्रसन्नता एवं रात्रि शोक का प्रतीक बन जाती है। प्रतीक-विधान भाषा की क्षमता को बढ़ाता है।

प्रकृति के माध्यम से रहस्यात्मक भावों की भी अभिव्यक्ति की जाती है। रहस्यवादी कवि भगवान की निराकार सत्ता को प्रकृति के अणुपरमाणु मे प्रसरित देखता है। रहस्यवाद की प्रथम स्थिति है जिज्ञासा। जिज्ञासा के पश्चात् परिचय होता है। रहस्यवादी कवि जिज्ञासा और परिचय इन दोनो स्थितियों की अभिव्यक्ति में प्रकृति का सहारा लेता है। दोलायित लतिका, कम्पित पल्लव, विहसित सुमन आदि में परमसत्ता की झलक मिलती है। प्रकृति के माध्यम से कवियों ने उपदेश भी दिये है। मानव आदर्शों का प्रकृति पर भी आरोप किया जाता है। कुछ प्राकृतिक वस्तुएँ मानव आदर्शों की प्रतीक ही बन गई हैं। पृथ्वी क्षमा, पवन सेवा-भाव, पर्वत दृढ़ता और वृक्ष परोपकार के प्रतीक हैं। गोस्वामी जी ने प्रकृति के क्रिया-कलाप का उपमान

मानव-व्यापार को ही बनाया है। कभी-कभी प्रकृति को मानव-विचारों अथवा भावों का आधार बना लिया जाता है। जैसे विचारों अथवा मनोभावों को दिखाना है तदनुरूप प्रकृति की भी सज्जा की जाती है। इस प्रकार प्रकृति आधार के रूप मे आधेय मनोभाव, विचार या मानव-व्यापार को बहुत सबल बना देती हैं।



# सौन्दर्यानुभूति

'अनु' और 'भूति' से मिलकर बने 'अनुभूति' शब्द के संस्कृत मे निर्णय, विविध स्रोतों से प्राप्त ज्ञान, उपलब्धि, बोध, ज्ञान, अनुमान, तर्क, प्रभृति कई अर्थ किये गये हैं। अंग्रेजी में इसका अर्थ चेतना और अनुभव दो हैं। मनोवैज्ञानिक इसे 'मानस अनुभव' कहते है। बाह्य वस्तुओ के विविध संस्कार विविध प्रकार से मानस में एकत्र होते रहते हैं। संस्कार एकत्र होने के पश्चात् अनुभूति रूप मे परिणत हो जाते है। मैड्गल और डॉ० भगवान दास ने अनुभूतियों के सुखात्मक-दुखात्मक दो स्वरूप मानेहैं, किन्तु वुडवर्ड के विचार से यह विभाजन समीचीन नहीं है। सुखकर और दुखकर कही जाने वाली अनुभूतियाँ परस्पर भिन्न प्रकार की दिखाई देती है। उनकी तीव्रता मे स्तर-भेद होता है। कुछ अनुभूतियाँ मंद होती है, कुछ अपेक्षाकृत अधिक तीव्र। निराशा और वेदना दोनों को दुखकर अनुभूति कहा जायेगा, पर उनकी अनुभूति में भिन्नता है। इस दृष्टि से वुडवर्ड ने अनुभूतियो की तीन विभिन्न कोटियाँ निर्धारित की हैं—सुखात्मक-दुखात्मक, अशान्ति-जडता, आतति (tenseness) और मुक्ति (relief)। अनुभूतियाँ बाह्य क्रिया-शून्य होती है और उनकी उपस्थिति में अन्तःव्यापार चला करता है। अन्तर्जगत में किसी अनुभूति की उपस्थिति में बाहर से हम भले ही निश्चेष्ट दिखाई पड़े, परन्तु मन बराबर कार्यरत रहता है।

काव्यानुभूति, रसानुभूति, भावानुभूति, प्रातिभ अनुभूति, विलक्षण अनुभूति, रहस्यानुभूति, दिव्यानुभूति, प्रत्यक्षानुभूति, समानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की चर्चा साहित्य के अन्तर्गत होती है। इनमें काव्यानुभूति, भावानुभूति, समानुभूति, रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति हमारे भाव-जगत से सम्बद्ध हैं। इन अनुभूतियों की चर्चा ही हमारा लक्ष्य है। इन अनुभूतियों की सर्व-प्रमुख विशेषता इनकी सुखावह स्थिति है। मात्र प्रत्यक्षानुभूति सुखकर, दुखकर अथवा अन्यान्य प्रकार की होती है। किन्तु काव्य अथवा कला में रूपायित हो जाने के पश्चात् अनुभूतियाँ आनन्दप्रद ही होती हैं। लोकानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति के कारण हम काव्यानुभूति को समझने में सक्षम होते हैं। लोकानुभूति से कम तीव्रता काव्यानुभूति में नहीं होती। दोनों की स्थिति मे भेद यह है कि दुखकर लोकानुभूति भी काव्यानुभूति बन जाने के पश्चात्

सुखकर हो जाती है। काव्यानुभूति का सम्बन्ध काव्यकर्ता से ही अधिक होता है। पाठक का काव्यानुभूति से सम्बन्ध नहीं होता है। भावानुभूति, भावो की प्रत्यक्ष लोक में प्राप्त अनुभूति अथवा काव्य मे प्राप्त भावो की अनुभूति दोनो को कहते हैं। भावानुभूति का क्षेत्र काव्यानुभूति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसका सम्बन्ध पाठक, आश्रय और काव्यकर्ता तीनो से होता है। समानुभूति भाव-तादात्म्य को कहते हैं।

आलम्बन को जैसी अनुभूति हो रही हो, ठीक उसी दशा मे आश्रय द्वारा अपने मनोभावो को पहुँचाकर तद्वत अनुभव करना सहानुभूति है। साधारणी-करण और समानुभूति का आधेय तथा आधार जैसा सम्बन्ध है। समानुभूति द्वारा भाव-तादात्म्य की भूमि निर्मित करने के पश्चात् ही साधरणीकरण सम्भव हो सकता है। इस प्रकार सहानुभूति का रसानुभूति से भी सम्बद्ध है। भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। रसानुभूति एक ऐसी प्रतीति है जिसमे 'स्व' और 'पर' के लोप से साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। पाठक को आश्रय के समान अनुभूति होती है। दोनो के भाव साधारणीकृत हो जाते हैं। रसानुभूति की अवस्था मे सभी प्रकार के भाव आनंदप्रद प्रतीत होते है। करुण रस की अनुभूति में भी ग्रहीता को आनन्दानुभूति होती है। काव्य मे कुछ ऐसे भी स्थल होते हैं, जहाँ रस-बोध नहीं होता, फिर भी वह स्थान रमणीय प्रतीत होता है। विभाव, अनुभाव एवं सचारी भाव मे से जहाँ कोई एक ही होगा, वहाँ तो रस-स्थिति हो नहीं सकती। ऐसे स्थलो के आकर्षण का कारण है सौन्दर्य। इन स्थानों पर रस के स्थान पर सौन्दर्य होता है। इस सौन्दर्य के कारण ही सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न होती है।

सौन्दर्य की आनंदमय अनुभूति सौन्दर्यानुभूति है। जब सुन्दर तत्व आनन्द का विषय बन कर चेतना को आनन्द प्रदान करता है तो उसे सुन्दर कहते है। सम्ममात्रा, सुव्यवस्था, एकरूपता, वैचित्र्य, संगति, प्रमाणबद्धता, स्पष्टता, मसृणता, कोमलता, प्रदीप्ति आदि गुणो के कारण कोई वस्तु हमें आकर्षित करती है। वह हमारी इन्द्रियो का विषय बनकर मानस में प्रवेश कर जाती है। वहाँ इन वस्तुओं की परिणति भाव रूप मे हो जाती है। वस्तुओं की भाव में परिणति के साथ ही साथ वस्तु में प्रतीत होने वाला सौन्दर्य घुला-मिला रहता है, फिर वस्तु का वह रूप तो मानस से हट जाता है और उसके संश्लिष्ट रूप से प्राप्त होने वाला सौन्दर्य-बोध अनुभूति के रूप मे वर्तमान रहता है। यह सौन्दर्य-बोध ही

सौन्दर्यानुभूति है।

बाह्य-जगत में सुन्दर वस्तु के कारण ही सौन्दर्यानुभूति होती है। गुलाब का फूल यदि सुन्दर है तो सौन्दर्यानुभूति करायेगा ही, किन्तु कला अथवा काव्यके अन्तर्गत सुन्दर उपादान अनिवार्य रूप से सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न कराने में सक्षम नहीं होते है। किसी सुन्दर वस्तु अथवा सुन्दर व्यक्ति का वर्णन बराबर सुन्दर ही नहीं हो सकता। कला अथवा काव्य मे वर्ण्य-वस्तु से अधिक महत्व अभिव्यक्ति का होता है। कला अथवा काव्य में सौन्दर्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता अपितु उसकी अभिव्यक्ति का सृजन किया जाता है। ऐसी अवस्था में यदि अभिव्यक्ति सुन्दर रही तो वर्ण्य-वस्तु भी सुन्दर लगेगी और यदि अभिव्यक्ति श्रीहीन हुई तो मात्र वस्तु सौन्दर्य-बोध नहीं करा सकती। व्यक्ति अथवा कलाकार की अभिव्यक्ति सुन्दर है तो 'कुकुरमुत्ता' जैसे उपेक्षित अथवा कोढ़ से घिनौना लगने व्यक्ति के माध्यम से भी सौन्दर्य-बोध हो सकता है। इस प्रकार काव्य अथवा कला में रूप की सफल अभि-व्यक्ति ही सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करा सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति की काव्य के अध्ययन के समय दो प्रकार की मनोदशायें होती हैं—एक मनःस्थिति मे वह भाव-मग्न हो जाता है और दूसरी मनः स्थिति में प्रशस्ति-पाठ करने लगता है। इस प्रकार मग्नता और प्रशस्तिपाठ दोनो ही अवस्थाओं से काव्य का पाठक गुजरता है। पाश्चात्य देशों मे काव्य में सौन्दर्यानुभूति की उपलब्धि मानी गई है और अधिकांश भारतीय लक्षणकारों ने काव्य मे रसानुभूति की स्थिति मानी है। रसानुभूति की स्थिति मग्न कर देने वाली है और सौन्दर्यानुभूति प्रशस्ति-पाठ की स्थिति है। रसानुभूति मे काव्य का पाठक उस भाव की प्रत्यक्षानुभूति सा करता है, किन्तु सौन्दर्यानुभूति में ऐसी अवस्था सम्भव नही। सौन्दर्यानुभूति मे मन प्रत्यक्षानुभव सा नहीं करता, किन्तु चमत्कार के वैचित्र्य अथवा इसी प्रकार की अन्य स्थिति मे रमण करने लगता है। काव्य में अधिकांश स्थलो पर सौन्दर्यानुभूति की ही स्थिति होती है। आधुनिक कविता मे तो रसानुभूति की स्थिति कम, सौन्दर्यानुभूति की स्थिति अधिक होती है। छोटी-छोटी कविताओ अथवा प्रगीत में उस विकसित भूमि का अभाव रहता है जो पाठक को रस-मग्न कर सके। ऐसी अवस्था मे सौन्दर्यानुभूति की प्रशस्ति-पाठ की अवस्था को 'स्वांग' कहना ठीक नहीं लगता। सौन्दर्यानुभूति में मन आकर्षक स्थलो में रमता है, केवल प्रशस्ति-पाठ ही नही करता। काव्य का पाठक रसानुभूति ही नही अपितु 'सौन्दर्यानुभूति' मे भी सहृदय कहलाने का अधिकारी है। सहृदयता

को रसानुभूति तक ही सीमित करने का अभिप्राय है, काव्य के अध्ययन मे उस स्थिति को अस्वीकार करना जहाँ हम रस-मग्न नही हो पाते, फिर भी किसी कारणवश वह स्थल आकर्षक लगता है।

## सौन्दर्यानुभूति की विशेषताएँ

सौन्दर्य की आनन्दमय अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति की संज्ञा दी गई है। कुछ विचारकों ने सुन्दर वस्तु को सत्य अथवा सत्य का प्रतिरूप कह कर उसे शिव अथवा मंगलकारी कहा है। इस प्रकार उन लोगों ने सत्यं-शिवं-सुन्दरम् को सौन्दर्यानुभूति के साथ भी संयुक्त किया है। उसको जहाँ-तहाँ स्थान देने का लोगों ने भरपूर प्रयास किया। किन्तु यह कोई अपरिहार्य नियम नही है कि जो वस्तु सुन्दर हो वह सत्य और शिव भी हो। कुछ वस्तुएँ सत्य होती हैं, किन्तु सुन्दर और शिव नही होती। ठीक इसी प्रकार उन वस्तुओं की अनुभूति सुन्दर होते हुए भी सत्य और शिव नहीं हो सकती। किसी अनुभूति की उपयोगिता से उसके सौन्दर्य की मात्रा नियत्रित नही की जा सकती। वस्तु-स्थिति तो यह है कि अनुभूति और उपयोगिता दो भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएँ हैं। किसी वस्तु से प्राप्त मानसिक संतुष्टि को उपयोगिता की सज्ञा दी जाय तो बहुत सी अनुभूतियाँ ऐसी भी हैं जो मानस को विक्षुब्ध करती हैं। काव्य में अनुभूतियो की सभी अवस्थाओ मे आनन्दमय परिणति होती है, पर लोकानुभूति से आनन्द और विक्षोभ दोनो प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि मूलतः उपयोगिता और अनुभूति का अपरिहार्य सम्बन्ध नही है। काव्य अथवा कला के माध्यम से व्यक्त होने के पश्चात् अनुभूतियाँ प्रत्येक अवस्था मे मानसिक संतोष प्रदान करती है। ऐसी दशा में उन्हे कोई उपयोगी कहना चाहे तो कह सकता है।

उपयोगिता के साथ ही नैतिकता का प्रश्न भी सौन्दर्यानुभूति से सम्बद्ध है। कला की नैतिकता से गाँठ बाँधते हुए कुछ लोगो ने कहा कि कला अनुकरण है। इसलिए उसे किसी अनैतिक वस्तु का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अनैतिक वस्तु का अनुकरण करने से अनैतिक भावो को प्रश्रय मिलेगा। इस प्रकार अनैतिकता की भावना समाज मे प्रसरित होगी। इसलिये कलाकृति का सम्बन्ध उन नैतिक प्रतिमानों से होना चाहिए जो जीवन मे व्यवहृत होते है। प्रश्न उठता है कि क्या नैतिकता और सौन्दर्य दोनों के प्रतिमान एक ही है? क्या नैतिकता और सौन्दर्य-भावना दोनों पर्याय है? वस्तुत. नैतिक प्रतिमान और सौन्दर्य के प्रतिमान दोनों का उद्भव मानव-विवेक से होता

है। नैतिकता की तो विवेक के अभाव में 'सत्ता' ही नहीं है। जिसे विवेक कार्य-अकार्य ठहराता है, वही नैतिकता के नाम से अभिहित होती है। यही कारण है कि नैतिक प्रतिमान शाश्वत और सर्वव्यापी नहीं होते। एक समाज जिसे नैतिक कहता है, दूसरा समाज उसे अनैतिक कह सकता है। नैतिक मूल्य मानव की संवेदनाओं के कारण स्थापित और परिवर्तित होते रहते हैं। मानव संवेदना ही सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है। विद्वानो के अनुसार सौन्दर्यानुभूति अनैतिक हो ही नहीं सकती। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विश्लेषण करके देखा जाय तो सौन्दर्य और नैतिकता दोनों पर्याय नहीं दिखाई पड़ते हैं। सुन्दर कही जाने वाली कुछ वस्तुएँ अनैतिक भी हो सकती हैं अथवा अनैतिक न हों तो कम से कम नैतिक तो नहीं ही हो सकती है। ग्रहीता अथवा भावक के विषय मे जैसी वस्तुस्थिति है, ठीक वैसी ही कलाकार के विषय में नहीं होती। कलाकार को कला का निर्माण करते समय उच्च कोटि के सौन्दर्य-बोध के साथ ही उच्च कोटि का नैतिक-बोध भी होता है। सौन्दर्य और नैतिकता दोनों के मूल्य का स्थापन मानव-संवेदनाओं द्वारा होना है। इससे उन्हें परस्पर सम्बद्ध कहा जाता है।

सौन्दर्य अथवा सौन्दर्यानुभूति को ईश्वरीय शक्ति अथवा आध्यात्मिकता से सम्बद्ध करके देखने वाले विचारक उसके नैतिक, मंगल-विधायक और विशुद्धि-कारक शक्ति पर विशेष बल देते हैं। सौन्दर्य की अध्यात्मक-परक व्याख्या करने वालों ने इसे ईश्वर सापेक्ष कहा है। ईश्वर सत्, चित् और आनंद इन तीन गुणो से युक्त है। इसलिए सौन्दर्य अथवा सौन्दर्य-बोध में भी ये तीनो गुण वर्तमान माने गए हैं। प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य-बोध तत्व-ज्ञान की प्राप्ति में सहायक और शिव-कारक होता है। उसने सौन्दर्यानुभूति को चित्त की विशुद्धि में सहायक माना है। प्लेटो ने सृष्टि को चेतन और प्रतीयमान, दो रूपों में विभक्त किया है। उसके अनुसार चेतन-जगत मे दिखाई पड़ने वाला सौन्दर्य प्रतीयमान जगत् का ही सौन्दर्य है। चेतन-जगत आदि-अन्तहीन परम तत्व का एक रूप है। इससे सभी वस्तुओ मे सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। सुन्दर वस्तु ईश्वरीय गुणो (सत्, चित्, आनन्द) से युक्त है। इसलिए उसकी अनुभूति चित्त को विशुद्ध बनाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति में विशुद्धि-कारक शक्ति मानने वाले कुछ विचारकों ने सौन्दर्य-बोध और तत्व-ज्ञान को पर्याय मानकर उसकी अध्यात्म-परक व्याख्या की है। यदि सौन्दर्य-बोध के इस आध्यात्मिक विश्लेषण के स्थान पर उसके भौतिक पक्ष पर ध्यान रखते हुए व्यावहारिक व्याख्या की जाय तो भी सौन्दर्य-बोध की

विशुद्धि-कारक शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि सौन्दर्य-बोध के समय ग्रहीता की संवेदना अथवा विवेक अपनी उच्चावस्था मे स्थित होता है। विवेक को ऐसी स्थिति में अनैतिक भाव आ ही नही सकते। सौन्दर्य-बोध की इस स्थिति के कारण सौन्दर्यानुभूति को कुछ लोगो ने विशुद्धि-कारक शक्ति भी कहा है। सौन्दर्य-बोध के समय समस्त चित्तवृत्तियाँ सुन्दर वस्तु की ओर ही उन्मुख रहती है। ग्रहीता के आकर्षण का विषय अन्य वस्तु हो ही नही पाती। इससे उसमें प्रशान्तता आती है। इस प्रशान्तता को आत्मा की विशुद्धि कहा जाता है।

सौन्दर्यानुभूति की सर्वोपरि विशेषता है आनन्द-मयता। सौन्दर्य-बोध मे वस्तु की आनन्दमय स्वीकृति विद्यमान रहती है। इस अवस्था मे ग्रहीता के मानस मे सुन्दर वस्तु का रूप और उससे उत्पन्न आनन्दमय अनुभूति दोनों साथ ही साथ रहती है। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है। इस प्रकार सुन्दर वस्तु एवं तज्जन्य आनन्दमय अनुभूति अन्योन्याश्रित हैं। ग्रहीता को यह अनुभूति समानुभूति के कारण प्राप्त होती है। इसे लक्षण-कारों ने 'लय' की अवस्था कहा है। हम किसी वस्तु के प्रति उसके बाह्य आकार-प्रकार में सम्मात्रा, संगति आदि गुणो को देखकर आकृष्ट होते है। फिर वह वस्तु हमारे मानस मे प्रवेश करने लगती है। ग्रहीता का मानस वस्तु के रूप को अपने मे प्रविष्ट कर लेने का प्रयास करता है। इस प्रयास मे उसके व्यक्तित्व का 'लय' क्षण भर के लिए वस्तु मे हो जाता है। इस 'लय' की अवस्था मे उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द दो प्रकार का होता है—एक व्यक्तिगत और दूसरा साम्प्रदायिक। साम्प्रदायिक आनन्द समाज-सापेक्ष होता है। कलाकार को अपनी अनुभूति को व्यक्त करने की प्रेरणा इसलिए होती है कि वह वैयक्ति अनुभूति को सामाजिक बनाना चाहता है। कलाकार जिस आनन्दमयी अनुभूति को प्राप्त करता है, उसे 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के लिए कला के माध्यम से व्यक्त करता है। सौन्दर्य की इस आनन्दमयी अनुभूति मे ग्रहीता मुग्ध रहता है। उसके मनोभावों का लय सुन्दर वस्तु में होता है। वस्तु उसके मनोभाव के रूप मे परिणत हो जाती है। ऐसी अवस्था मे वस्तु के मुग्धकारी रूप की कल्पना अत्यन्त सहज है।

सौन्दर्यानुभूति की स्थिति चमत्कार-प्रधान होती है। सौन्दर्य-बोध की अवस्था में सुन्दर वस्तु में सन्निहित चमत्कार के कारण ग्रहीता के मानस में कौंध सी उत्पन्न होती है। काव्य मे चमत्कार, वर्ण-विन्यास की विशेषता,

स्तुओं की विचित्रता अथवा विचित्र कल्पना के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है। काव्य मे प्रदर्शित चमत्कार मर्म को भी स्पर्श करता है, किन्तु उसकी स्थिति अस्थायी होती है। रसानुभूति में ग्रहीता के मनोभावों का आश्रय से साधारणीकरण हो जाता है। उसका व्यक्तित्व वस्तु मे लय हो जाता है। ऐसी अवस्था मे रसानुभूति की स्थिति कुछ क्षण तक विद्यमान रहती है, परन्तु चमत्कार प्रधान होने के कारण सौन्दर्यानुभूति की स्थिति मे ऐसा सम्भव नही है। सौन्दर्य-बोध मे ग्रहीता को अपनी मनःस्थिति का पता रहता है। वह सुन्दर वस्तु से चमत्कृत होता है। उसे चमत्कारजन्य आनन्दानुभूति की प्राप्ति होती है।

सौन्दर्यानुभूति मे सुन्दर वस्तु से समात्म भाव का अनुभव होता है। रसानुभूति की चरम स्थिति में ग्रहीता कुछ क्षण के लिए अपने व्यक्तित्व और वस्तु से परे निरानन्द की स्थिति में पहुँच जाता है, किन्तु सौन्दर्य-बोध के समय वस्तु से उसका साथ नहीं छूट पाता। वस्तु की प्रतीति मे ही आनन्दानुभूति मिश्रित रहती है। यदि वस्तु का ज्ञान समाप्त हो जाय तो आनन्द की अवस्था भी समाप्त हो जायेगी। इसीलिए सुन्दर वस्तु अथवा सौन्दर्य की आनन्दमयी अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहा गया है।

## कला और सौन्दर्यानुभूति

संस्कृत शब्द 'कला' की विद्वानों ने कई प्रकार से व्युत्पत्ति ढूंढी है। कुछ लोग इसे 'कल' (कोमल, मधुर, सुखदायी) से, कुछ लोग 'कल' धातु (शब्द करना, बजना, गिनना) से और कुछ लोग 'कड्' धातु (मनन करना, प्रसन्न करना) से इसे सम्बद्ध बताते है। कुछ लोगों के मतानुसार 'कं आनंदम् दाति इति कला' अर्थात् जो आनन्द लाती है वह कला है। अंग्रेजी के 'आर्ट' शब्द का सम्बन्ध फ्रेन्च 'आर्ट' और लैटिन 'आर्टम' से बताया गया है। 'आर्ट' शब्द 'अर्' (AR) धातु से बना है। 'अर्' का अर्थ है बनाना, पैदा करना फिट करना। इस प्रकार अंग्रेजी का 'आर्ट' और संस्कृत का 'कला' शब्द अपने मूल अर्थ में पर्याय नही है। 'कला' शब्द से कलाकार द्वारा निर्मित वस्तु से ग्रहीता को जिस सुख की प्राप्ति होती है, उसकी ओर लक्ष्य है, जबकि आर्ट मे कलाकार के निर्माण-शक्ति का ही संकेत है। एक भोग की स्थिति स्पष्ट कर रहा है, दूसरा रूप की स्थिति को। एक साध्य की बात कर रहा है, दूसरा साधन की। किन्तु आज ये दोनों शब्द पर्याय बन गए है। 'आर्ट' 'शब्द' की ध्वनि का संस्कृत का 'शिल्प' शब्द है। 'शिल्प' का अर्थ है 'शारीरिक अथवा मानसिक कौशल।'[1]

प्लेटो कला को सत्य की अनुकृति मानता है। उसके अनुसार अनुकरण मात्र होने के कारण कला मनुष्य के लिए हेय है। आधुनिक युग मे शिलर ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। किन्तु उसके अनुसार ग्रहीता अपनी कल्पना के सहारे प्रकृति के अनुकरण में भी ठीक वही आनन्द पाता है जो प्रकृति से प्राप्त होता है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि कला अनुकरण मात्र नही है। कलाकार कला के माध्यम से वस्तु को नया जीवन प्रदान करता है। कला में अभिव्यक्त वस्तु ठीक वही नहीं होती जैसा उसका स्वरूप बाह्य जगत मे प्रतिबिम्बित होता है। बाह्य जगत मे प्रतिभाषित प्राकृतिक उपकरण कलाकार के अन्तर्मन में प्रवेश कर परिवर्धित-परिर्तित होने के पश्चात् कलाकार में रूपायित होते है। बाह्य जगत में प्रतिबिम्बित वस्तु कलाकार के अन्तर्मन मे घुल-मिल कर अपने यथार्थ स्वरूप से कुछ भिन्न रूप में अभिव्यक्त होती है। अभिव्यंजनावाद के इस सिद्धांत मे सबसे बडी कमी यह है कि प्रमेय अथवा आलम्बन के स्वरूप को महत्वहीन समझा जाता है। यहाँ वस्तु के स्वरूप के अभाव मे सौन्दर्य-बोध की कल्पना की गई है। रस्किन प्रत्येक कला-कृति में ईश्वर कृत वस्तुओ के प्रति मानव की प्रसन्नता व्यक्त देखता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार कलाकृति मे मानव स्वयं अपनी अभिव्यक्ति देखता है। इसी प्रकार कला के सम्बन्ध में व्यक्त अनेकानेक मत कला मे व्यक्त सौन्दर्य की ही मीमासा करते है। काका कालेलकर को तो कला का आनन्द लेने और उसे पूर्णतया पहचानने के स्थान पर उसकी मीमासा में उतरना ठीक वैसे ही लगता है जैसे फूल के सौन्दर्य को देखने के पश्चात् उसकी आन्तरिक रचना को देखने के लिए उसके टुकड़े करना।

'कला' शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या समझ लेने के पश्चात् एक अत्यन्त सहज प्रश्न उठता है कि कला का प्रयोजन क्या है? कला-कृतियो का निर्माण कलाकार करता क्यो है? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक सूक्तियो का निर्माण हुआ। कोई कला का प्रयोजन कला बताता है, कोई जीवन, कोई सेवा, कोई 'स्व' का ज्ञान, कोई प्रसन्नता, कोई विनोद और कोई निर्माण बताता है। यदि इन उक्तियों से विरत होकर देखा जाय तो प्रत्यक्ष रूप से उभर कर सामने आने वाला तथ्य क्या होगा? कला के जितने भी विभाजन किए गए हैं, चाहे वह हृदयाश्रयी विद्या का विभाजन हो अथवा विज्ञानाश्रयी उपविद्या का; चाहे कला के ललित और उपयोगी विभाजन के अन्तर्गत आने वाली आचरण विषयक, ललित कला विषयक अथवा

दारकला विषयक विभाजन हों अथवा रूप-संमूर्तन-अनुकरण और मनोवैज्ञानिक धारों पर स्थिर किये गये कला के विभिन्न रूप हो, सब की रचना सौन्दर्य ी सृष्टि करने के लिये ही हुई है। कला के अन्तर्गत मनुष्य की सुन्दरतम चनात्मक प्रवृत्ति का दर्शन होता है। देश, काल और वातावरण के अनुसार मानव के रचनात्मक सौन्दर्य में अन्तर आ जाता है, किन्तु उसके अन्त. में स्थित सुरुचि सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। मानव ने अपनी जीवन-यात्रा मे जिन सुन्दर रूपो की सृष्टि की है, आज उन्हे हम 'कला' नाम से अभिहित करते है। खान-पान, रहन-सहन आदि दैनन्दिन आवश्यकताओ को मनुष्य ने पूरा ही नही किया अपितु उसे अधिक आकर्षक और सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयास भी किया है। निवास के लिए घास-फूस की झोपड़ी से लेकर बड़े-बडे प्रासादो के निर्माण के साथ ही उन्हें अधिकाधिक सुरुचिपूर्ण बनाने का भी ध्यान रखा है। उसकी वेश-भूषा उसके अंगो ढकने के साथ ही उसकी सुरुचि की भी प्रतीक बन गई। मनुष्य ने अपनी बढ़ती हुई आवश्य-कताओं की पूर्ति के साथ ही मानसिक संतोष प्राप्त करने का भी प्रयास किया। उपयोगिता के ऊपर उठकर सौन्दर्य-बोध की आवश्यकता की पूर्ति की। इस प्रकार मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे कला का प्रसार हुआ।

कलाकृति के माध्यम से जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है, वह सौन्दर्य बाह्य जगत के प्राकृतिक उपकरणो में कुछ अंश मे विद्यमान रहता है। इसके साथ ही उसकी स्थिति कलाकार के अन्तर्मन मे भी होती है। वस्तु अपने सौन्दर्य के कारण कलाकार के मन में प्रवेश करती है, तत्प-श्चात् कलाकार उन्हें अपने भावो मे रंग कर अभिव्यक्त करता है। कलाकृति बाह्य उपकरणो से प्रेरित कलाकार के अन्तर्मन की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति होती है। कलाकार बाह्य जगत में सुन्दर कहे जाने वाले प्राकृतिक उपकरणों को भी अपने हृदय-स्थित सौन्दर्य में रंग कर सुन्दर बना देता है। प्राकृतिक उपादान कलाकृति मे अभिव्यक्त होकर अथवा कलाकृति बन जाने के पश्चात् असुन्दर हो ही नही सकते। अपनी अनुभूति की तीव्रतम अवस्था मे कलाकार को केवल सौन्दर्य का दर्शन होता है। करुण, वीभत्स, अद्भुत, रौद्र आदि भावों को व्यक्त करने वाली कलाकृति का लक्ष्य भी सौन्दर्य-बोध कराना होता है। वस्तुतः लौकिक उपकरणो में व्यक्त कलाकार की वेगवती सौन्दर्यानुभूति कला है।

कलाकृति का निर्माण स्वप्नावस्था में नहीं होता है। बाह्य उपकरणों से अन्तर्मन के सौन्दर्य को कलाकृति के माध्यम से मूर्त करते समय कलाकार पूर्ण चेतनावस्था में होता है। उसकी सम्पूर्ण वृत्ति कलाकृति की ओर उन्मुख होती है। उसकी मनोदशा लौकिकता के सामान्य धरातल से किंचित उठी हुई अवश्य होती है। लौकिक वस्तुएँ उसकी चेतना में तरलित होती रहती हैं, किन्तु वे कलाकार के भावों से रंगी हुई अपने मूल स्वरूप से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। उनकी अभिव्यक्ति मे भी यही स्थिति होती है। कलाकार द्वारा निर्मित कलाकृति को वस्तु के लौकिक रूप का ही अनुकरण किसी भी अवस्था में नही कहा जा सकता। फोटोग्राफिक चित्र और कलाकार द्वारा निर्मित चित्र दोनों एक ही नहीं हैं। फोटो में जिस छवि का दर्शन होगा वह यथातथ्य से भी कुछ कम प्रतीत होता है। इसके विपरीत कलाकार के चित्र में लौकिक वस्तु के सौन्दर्य के साथ ही कृतिकार के अन्त का भी सौन्दर्य सम्मिलित होता है। इसलिये उसकी छवि वस्तुस्थिति से भी अधिक होगी। इसी से कला की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए भारतीय मनीषियों ने उसे 'महामाया का चिन्मय विलास' और उसकी 'सम्मूर्तन शक्ति' कहा है। कलाकार कला के रूप में विधि से एक अलग सृष्टि रचता है। यह सृष्टि वह अपनी चैतन्यावस्था मे करता है। इसलिए कला 'महामाया का चिन्मय स्वरूप' है।

कलाकृति का निर्माण करते समय कलाकार को और उसे भाव ग्रहण करते समय ग्रहीता को एक विशेष प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है। कलाकृति से प्राप्त आनन्द भावात्मक होता है। इसके अतिरिक्त उस आनन्द का आधार मूर्त स्वरूप होता है। इसलिए शास्त्र से प्राप्त आनन्द की अपेक्षा कला द्वारा प्राप्त आनन्द तीव्रतर होता है। शास्त्र से प्राप्त आनन्द मेधा से उत्पन्न होता है। उसकी प्राप्ति श्रम-साध्य होती है। ऐसी अवस्था मे भाव-प्रधान कलानन्द के समकक्ष वह नहीं हो पाता। इसी प्रसंग में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। कला से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति की अवस्था आलम्बन-विहीन नहीं होती है। इसी प्रकार कलाकार अपने व्यक्तित्व की इकाई मे कलाकृति का निर्माण नहीं करता है। कलाकृति से ग्रहीता को सौन्दर्यानुभूति समात्मभाव से प्राप्त होती है। कलाकार जैसा अनुभव करता है, तदनुरूप कला का निर्माण करता है। इसी प्रकार ग्रहीता कलाकृति से ठीक वैसा ही भाव ग्रहण करता है जैसा कलाकार मे उत्पन्न हुआ था। ग्रहीता कलाकृति के स्वरूप के अभाव में सौन्दर्य नहीं प्राप्त कर सकता। सौन्दर्य किसी अवस्था में स्वरूपहीन

ही हो सकता। इसी प्रकार कलाकार अपनी कलाकृति के लिए समाज से आधार प्राप्त करता है, फिर उसमें अपने भावों को अन्तर्भुक्त कर कलाकृति का निर्माण करता है। कलाकार के व्यक्तित्व के साथ ही प्रेरक वस्तु का व्यक्तित्व और फिर कलाकृति का व्यक्तित्व जब घुलमिल जाता है तब कला का सृजन होता है। अनेक व्यक्तियों का एक स्थान पर मिलन ही समात्मभाव है। व्यक्तित्व के अकेलेपन में कलात्मक सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द का स्फोट असम्भव है।

कौतूहल की पूर्ति करके कला आनन्द प्रदान करती है। वह वस्तु-स्थिति की अपेक्षा कल्पना, सीधेपन की अपेक्षा बांकपन तथा प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष से अधिक काम लेती है। कला यह सब कौतूहल-वर्धन और उसकी तृप्ति के लिए ही करती है। कुन्तक के मतानुसार कला को सामान्य से भिन्न अर्थात् वक्र होना चाहिए। यह वक्रता ही कौतूहल जगाती है। कला के आनन्द का स्फोट कौतूहल के माध्यम से होने के कारण कलानुभूति रसानुभूति के समान कुछ क्षणों के लिए स्थायी नहीं हो पाती। पहले कलाकृति से कौतूहल उद्बुद्ध होता है, फिर सौन्दर्य का स्फोट होता है और फिर समाप्त हो जाता है। कलानुभूति की यही प्रक्रिया है। अपनी इस प्रक्रिया के माध्यम से कला लोक को मूर्त रूपों और मन के भावों से पूर्ण बनाती है।

## काव्य और सौन्दर्यानुभूति

कला का साध्य सौन्दर्यानुभूति है। कलाकार बाह्य जगत में जिस सौन्दर्य का दर्शन करता है और उसके मानस में जिस सौन्दर्य का निर्माण होता है उसको कलाकृति के माध्यम से कलाकार व्यक्त करता है। कला के जितने भी भेदोपभेद किये गए हैं, उनका साध्य सौन्दर्य है। काव्य यदि कला की एक विधा है तो उसका भी साध्य सौन्दर्य होना चाहिए, परन्तु अधिकांश भारतीय मनीषियों के विचार कुछ और हैं। भारतीय विचारधारा के अनुसार विद्या और उपविद्या ज्ञान की दो शाखाएँ हैं। काव्य विद्या का स्वरूप है, जबकि कलाएँ उपविद्या के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार इनके दो भिन्न मार्ग हैं। ऐसी अवस्था में इनका साध्य भी भिन्न होगा। हमारा इससे विशेष प्रयोजन नहीं कि काव्य कला का ही स्वरूप है अथवा उसकी सत्ता अपने आप में स्वतंत्र है। हमें इतना ही देखना है कि काव्य में सौन्दर्य-बोध के लिए स्थान होता है अथवा नहीं।

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार काव्य में सौन्दर्यानुभूति की ही प्राप्ति

कलाकृति का निर्माण स्वप्नावस्था में नही होता है। बाह्य उपकरणो मे अन्तर्मन के सौन्दर्य को कलाकृति के माध्यम से मूर्त करते समय कलाकार पूर्ण चेतनावस्था मे होता है। उसकी सम्पूर्ण वृत्ति कलाकृति की ओर उन्मुख होती है। उसकी मनोदशा लौकिकता के सामान्य धरातल से किंचित उठी हुई अवश्य होती है। लौकिक वस्तुएँ उसकी चेतना मे तरंगित होती रहती है, किन्तु वे कलाकार के भावो मे रंगी हुई अपने मूल स्वरूप से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। उनकी अभिव्यक्ति मे भी यही स्थिति होती है। कलाकार द्वारा निर्मित कलाकृति को वस्तु के लौकिक रूप का ही अनुकरण किसी भी अवस्था में नही कहा जा सकता। फोटोग्राफिक चित्र और कलाकार द्वारा निर्मित चित्र दोनों एक ही नही है। फोटो में जिस छवि का दर्शन होगा वह यथातथ्य से भी कुछ कम प्रतीत होता है। इसके विपरीत कलाकार के चित्र मे लौकिक वस्तु के सौन्दर्य के साथ ही कृतिकार के अन्त का भी सौन्दर्य सम्मिलित होता है। इसलिये उसकी छवि वस्तुस्थिति से भी अधिक होगी। इसी से कला की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए भारतीय मनीषियो ने उसे 'महामाया का चिन्मय विलास' और उसकी 'सम्मूर्तन शक्ति' कहा है। कलाकार कला के रूप मे विधि से एक अलग सृष्टि रचता है। यह सृष्टि वह अपनी चैतन्यावस्था में करता है। इसलिए कला 'महामाया का चिन्मय स्वरूप' है।

कलाकृति का निर्माण करते समय कलाकार को और उसे भाव ग्रहण करते समय ग्रहीता को एक विशेष प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है। कलाकृति से प्राप्त आनन्द भावात्मक होता है। इसके अतिरिक्त उस आनन्द का आधार मूर्त स्वरूप होता है। इसलिए शास्त्र से प्राप्त आनन्द की अपेक्षा कला द्वारा प्राप्त आनन्द तीव्रतर होता है। शास्त्र से प्राप्त आनन्द मेधा से उत्पन्न होता है। उसकी प्राप्ति श्रम-साध्य होती है। ऐसी अवस्था मे भाव-प्रधान कलानन्द के समकक्ष वह नही हो पाता। इसी प्रसंग में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। कला से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति की अवस्था आलम्बन-विहीन नही होती है। इसी प्रकार कलाकार अपने व्यक्तित्व की इकाई में कलाकृति का निर्माण नही करता है। कलाकृति से ग्रहीता को सौन्दर्यानुभूति समात्मभाव से प्राप्त होती है। कलाकार जैसा अनुभव करता है, तदनुरूप कला का निर्माण करता है। इसी प्रकार ग्रहीता कलाकृति से ठीक वैसा ही भाव ग्रहण करता है जैसा कलाकार में उत्पन्न हुआ था। ग्रहीता कलाकृति के स्वरूप के अभाव में सौन्दर्य नही प्राप्त कर सकता। सौन्दर्य किसी अवस्था में स्वरूपहीन

नहीं हो सकता । इसी प्रकार कलाकार अपनी कलाकृति के लिए समाज से आधार प्राप्त करता है, फिर उसमें अपने भावों को अन्तर्भुक्त कर कलाकृति का निर्माण करता है । कलाकार के व्यक्तित्व के साथ ही प्रेरक वस्तु का व्यक्तित्व और फिर कलाकृति का व्यक्तित्व जब घुलमिल जाता है तब कला का सृजन होता है । अनेक व्यक्तियों का एक स्थान पर मिलन ही समात्मभाव है । व्यक्तित्व के अकेलेपन में कलात्मक सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द का स्फोट असम्भव है ।

कौतूहल की पूर्ति करके कला आनन्द प्रदान करती है । वह वस्तु-स्थिति की अपेक्षा कल्पना, सीधेपन की अपेक्षा बांकपन तथा प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष से अधिक काम लेती है । कला यह सब कौतूहल-वर्धन और उसकी तृप्ति के लिए ही करती है । कुन्तक के मतानुसार कला को सामान्य से भिन्न अर्थात् वक्र होना चाहिए । यह वक्रता ही कौतूहल जगाती है । कला के आनन्द का स्फोट कौतूहल के माध्यम से होने के कारण कलानुभूति रसानुभूति के समान कुछ क्षणों के लिए स्थायी नहीं हो पाती । पहले कलाकृति से कौतूहल उद्बुद्ध होता है, फिर सौन्दर्य का स्फोट होता है और फिर समाप्त हो जाता है । कलानुभूति की यही प्रक्रिया है । अपनी इस प्रक्रिया के माध्यम से कला लोक को मूर्त रूपों और मन के भावों से पूर्ण बनाती है ।

## काव्य और सौन्दर्यानुभूति

कला का साध्य सौन्दर्यानुभूति है । कलाकार बाह्य जगत में जिस सौन्दर्य का दर्शन करता है और उसके मानस में जिस सौन्दर्य का निर्माण होता है उसको कलाकृति के माध्यम से कलाकार व्यक्त करता है । कला के जितने भी भेदोपभेद किये गए हैं, उनका साध्य सौन्दर्य है । काव्य यदि कला की एक विधा है तो उसका भी साध्य सौन्दर्य होना चाहिए, परन्तु अधिकांश भारतीय मनीषियों के विचार कुछ और हैं । भारतीय विचारधारा के अनुसार विद्या और उपविद्या ज्ञान की दो शाखाएँ हैं । काव्य विद्या का स्वरूप है, जबकि कलाएँ उपविद्या के अन्तर्गत आती हैं । इस प्रकार इनके दो भिन्न मार्ग हैं । ऐसी अवस्था में इनका साध्य भी भिन्न होगा । हमारा इससे विशेष प्रयोजन नहीं कि काव्य कला का ही स्वरूप है अथवा उसकी सत्ता अपने आप में स्वतन्त्र है । हमें इतना ही देखना है कि काव्य में सौन्दर्य-बोध के लिए स्थान होता है अथवा नहीं ।

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार काव्य में सौन्दर्यानुभूति की ही प्राप्ति

होती है। कलाओं का भी साध्य सौन्दर्यानुभूति है। उनके अनुसार दोनों का साध्य एक ही है, साधन भले ही अलग हों। भारतीय मनीषियों ने काव्य को रसानुभूति प्रधान माना है। भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के सम्मिलन से रस की निष्पत्ति होती है। आश्रय, काव्यकर्ता और पाठक के मनोभाव एक धरातल पर साधारणीकृत हो जाते हैं। समानुभाव के आधार पर उनके भाव तद्गत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति काव्य में ही सम्भव है। कलाकृति मे अभिव्यक्त भाव से ग्रहीता का तादात्म्य हो जाता है। प्राय कलाकृति का आस्वादन करते समय ग्रहीता चमत्कृत अथवा मुग्ध होता है। इस चमत्कार और मुग्धता के कारण आनन्द का स्फोट होता है। ठीक यही अवस्था काव्य मे भी अनेक स्थलो पर दिखाई पडती है। भारतवर्ष के प्राचीन काव्य शास्त्रियों ने भी लक्ष्य किया था कि काव्य मे ऐसे भी स्थल होते हैं जहाँ रसानुभूति की स्थिति नही रहती, फिर भी वे स्थल ग्रहीता को आकर्षित ही नही अपितु मुग्ध करते हैं। ऐसे मुग्धकारी स्थलो पर ही सौन्दर्यानुभूति होती है। काव्य मे कवि के अन्तर्मन का ही सौन्दर्य पद-पद पर मूर्त दिखाई पडता है। काव्य के माध्यम से कवि अपने सौन्दर्य-बोध को पाठको तक पहुँचाने का प्रयास करता है। रसानुभूति की स्थिति मे भी कवि की सौन्दर्यानुभूति का प्रतिफलन होता है। काव्य मे जो कुछ है वह तभी ग्राह्य हो सकता है जब सुन्दर हो।

कवि की कृति में सौन्दर्य का ही स्थान है। काव्य-वस्तु बन जाने के पश्चात् सभी वस्तुएँ आकर्षक हो जाती है। किन्तु पार्श्वभूमि चित्रण, वातावरण निर्माण, आलम्बन के स्वरूप और अनुभाव-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, कला-विधान आदि में सौन्दर्य की स्थिति विशेष रूप से दिखाई पडती है। ये ऐसे स्थल हैं, जहाँ कवि की सौन्दर्य-भावना मुखर हो जाती है। कवि पार्श्व-भूमि का चित्रण और वातावरण का निर्माण जिन उपादानों के माध्यम से करता है, उनमें रस निष्पत्ति की क्षमता नही होती। कभी आलम्बन की कुछ चेष्टाओं से, कभी आश्रय के स्वल्प कथन से और कभी प्राकृतिक उपादानों से ही वातावरण अथवा पार्श्वभूमि का चित्रण कर दिया जाता है। ऐसे स्थल रसानुभूति की पीठिका हो सकते हैं, रसानुभूति के स्थल नही हैं। वातावरण अथवा पार्श्वभूमि तथा प्रदर्शित भाव मे आधार-आधेय का सम्बन्ध होता है। पार्श्वभूमि तथा वातावरण के निर्माण द्वारा कवि सौन्दर्यानुभूति की स्थिति उत्पन्न करता है। इस स्थिति के माध्यम से बाद को आने वाली रसानुभूति के प्रभाव को वह तीव्रतर करने में सक्षम होता है। काव्य मे

कुछ स्थलो पर आलम्बन के रूप-सौन्दर्य अथवा अंग-विशेष के सौन्दर्य की ही चर्चा होती है। ऐसे वर्णन स्वयं साध्य होते हैं। कवि का लक्ष्य रूप-वर्णन मात्र होता है। भक्तिकालीन कवियों मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। रूप-वर्णन के ऐसे स्थल पाठक मे सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करते है। अनुभाव को भी रूप का ही एक अंग कहा जा सकता है। आलम्बन के कटा-क्षपात, आलस्य मे टूटती देह-यष्टि, स्वेद-क्षरण आदि आलम्बन के रूप-सौन्दर्य की ओर ही दर्शक अथवा पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। स्वभा-वोक्ति अलकार से सौन्दर्य-बोध कराने की पर्याप्त क्षमता होती है। जैसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, इसे अलकार कहना ही नही चाहिए। इसके माध्यम से तो सीधे-सीधे रूप-चित्रण होता है। किसी जीव की स्वाभा-विक आंगिक चेष्टाएँ ही तो 'स्वभावोक्ति' अलंकार मे वर्णित की जाती हैं। इसमे अप्रस्तुत-विधान प्राय' एकदम नही होता। प्रकृति के वर्णन से भी काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है। मानव के रूप का अंकन जितना आकर्षक होता है, प्रकृति के उपादानो का चित्रण उतना ही मधुर होता है। काव्य मे प्रकृति का वर्णन आलम्बन, उद्दीपन, अप्रस्तुत-विधान, वातावरण का निर्माण आदि कई प्रकार से होता है। प्रकृति के जितने भी रूपो की चर्चा की गई है, वे सौन्दर्य-बोध कराने मे सफल हैं।

काव्य का कला-पक्ष तो पूर्णतया सौन्दर्य-बोध कराता है। कला-पक्ष के अन्तर्गत भाषा, अलंकार, छंद, रीति, गुण आदि का विचार होता है। कला के ये सभी तत्व सौन्दर्य-बोध कराते हैं। वैसे भावानुकूल भाषा, अलंकार, छंद आदि रसानुभूति को तीव्रतर करने में सहायक होते हैं, किन्तु ये एकाकी होकर कभी रसानुभूति नहीं करा सकते। अपनी एकाकी अवस्था मे ये चम-त्कार उत्पन्न करते है। चमत्कार से सौन्दर्य का स्फोट होता है। कलापक्ष की यही प्रक्रिया है।

## सौन्दर्य और चमत्कार

मानव भाव-प्रधान बौद्धिक प्राणी है। इसलिये उसके सौन्दर्य-बोध की सत्ता मात्र भावात्मक ही नही होती। सौन्दर्य-बोध की कुछ ऐसी भी स्थितियाँ होती हैं, जहाँ बुद्धि-विलास मात्र होता है। कला अथवा काव्य का सृजन करते समय कवि अथवा कलाकार अन्त स्थित भाव-जगत से यदि परिचालित होता है तो बुद्धि-तत्त्व से नियंत्रित। इसी प्रकार काव्य का आस्वाद भावात्मक ही नही अपितु बौद्धिक भी होता है। काव्य मे चमत्कार की स्थिति भावात्मक

कम और बौद्धिक अधिक होती है। चमत्कार की स्थिति वहीं उत्पन्न होती है, जहाँ लोक-सामान्य से कुछ वैचित्र्य देखने के कारण ग्रहीता के मानस मे एक कौंध-सी उठे। कुन्तक ने 'वैदग्ध-भंगी-भणिति' अर्थात् वचन-भंगिमा को काव्य-चमत्कार का मूलस्रोत माना है। उन्होंने वक्रोक्ति को वाक्-चातुर्य अथवा उक्ति-चमत्कार नही माना है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति कवि-व्यापार और कौशल है। वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान, प्रबन्ध-कल्पना आदि सभी काव्य-कौशल का समाहार कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत कर लिया है। इस प्रकार वक्रोक्ति शब्द अथवा अर्थ की क्रीडा नहीं है। वह बुद्धि-विलास मात्र नहीं अपितु काव्य का नित्य धर्म है। वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है।

रसवादी वक्रोक्ति को काव्य का आवश्यक तत्व मानते है। उनके अनुसार वक्रोक्ति को भावोद्‌बोधक होना चाहिए। भाव की परिधि से हटने पर वक्रोक्ति श्रीहीन हो जाती है। काव्य मे रस की स्थिति ही सदैव रहती है। रस से इतर गुण उसके अनित्य धर्म हैं। वक्रोक्तिवादी वक्रोक्ति को अंगी मानते है। उनके अनुसार रस के अभाव मे वक्रोक्ति की स्थिति सम्भव है, परन्तु वक्रोक्ति के अभाव में रस की नहीं। कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का प्राण कहा है। रस-हीन वक्रता निकृष्ट कोटि की है, ऐसा मानते हुए भी कुन्तक रस-निरपेक्ष वक्रता की कल्पना करते है। कुन्तक के परवर्ती अलंकारिकों ने भाव की अपेक्षा कल्पना-वैचित्र्य को वक्रोक्ति का सबल आधार माना है। इससे वक्रोक्तिवाद, रसवाद की अपेक्षा अलंकारवाद के अधिक निकट आ गया। इस प्रकार रस वक्रोक्ति का प्राण-रस है और कवि की कल्पना को अत्यधिक प्रभावित करता है। वह लोक के सामान्य अर्थ से विचित्र, अतिशयोक्ति का समानार्थी, लक्षण के अनेक निबन्धों में सादृश्य निबन्धना लक्षणा अलंकार अथवा वक्र-छल पर आधारित अलंकार मात्र नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्ति को उक्ति का चमत्कार कह कर उसे मनोरंजन का साधन माना है। इसके अन्तर्गत वे 'वर्ण विन्यास की विशेषता (अनुप्रास), शब्दों की क्रीड़ा (श्लेष-यमक आदि), वाक्य की वक्रता या वचन भंगी (विरोधाभास, असंगति आदि) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्‌भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उसके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि) को मानते हैं (रस मीमांसा, पृ० २८)।' शुक्ल जी के अनुसार चमत्कार अथवा उक्ति-वक्रता का प्रयोग भाव को तीव्रतर करने के लिए किया जाता है। चमत्कार काव्य का नित्य लक्षण

ही है। यदि किसी उक्ति मे मार्मिकता छिपी है तो वैचित्र्य के अभाव मे भी ह सरस हो सकती है। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे स्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन कर दे, वह काव्य है। जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य-चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे, वह सूक्ति है (रस मीमासा पृ० ८३)। इस प्रकार वे भावानुमोदित वक्रता में ही काव्यत्व मानते थे।

कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त और शुक्ल जी के चमत्कार में सबसे बड़ा भेद यह है कि शुक्ल जी ने उसे शब्द और वाक्य-वैचित्र्य एवं अप्रस्तुत-विधान तक ही सीमित कर काव्य का अनित्य धर्म कहा है, जबकि कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य और अप्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त विषय-वस्तु की रमणीयता और प्रबन्ध-कल्पना का भी समावेश कर उसे काव्य का नित्य-धर्म ठहराया है। कुन्तक वक्रोक्ति को अंगी और रस को उसका अंग और शुक्ल जी रस को अंगी और वक्रोति को अंग मानते हैं। सिद्धान्तत वक्रोक्ति का प्राण रस कुन्तक और शुक्ल जी दोनो को मान्य है, किन्तु व्यवहार में शुक्ल जी वक्रोक्ति को रस का सहायक और कुन्तक रस को वक्रोक्ति का सहायक मानते है। शुक्ल जी ने वक्रोक्ति के धर्म चमत्कार को उसका पर्याय मान लिया है। इसी से वे वक्रोक्ति के भावानुमोदित पक्ष की ओर उतना ध्यान न दे सके। वक्रोक्ति को यदि भामह और वामन के समान अलंकार मात्र स्वीकार कर काव्य का अनित्य लक्षण माना जाय तो शुक्लजी के कथन से पूर्णतया सहमत होना पड़ेगा और यदि वक्रोक्ति वर्ण और शब्द-सौन्दर्य तथा अप्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त विषय-वस्तु की रमणीयता तथा प्रबन्ध-कल्पना तक व्याप्त है तो उसे काव्य का नित्य-धर्म स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

कुछ लोग पश्चिम के अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का पाश्चात्य रूपान्तरण कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम ऐसी बात कही थी। वस्तुस्थिति कुछ और है। दोनों काव्य-सिद्धान्तों की तुलना करने पर समानता की अपेक्षा असमानताएँ अधिक दिखाई पड़ती है। वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद मे समानता इतनी ही है कि दोनों काव्योक्ति में ही सौन्दर्य की सत्ता सन्निहित मानते है। वक्रोक्तिवादी 'भंगी भणिति' की ही विवेचना करता है, परन्तु अभिव्यंजनावादी सौन्दर्य की खोज एकदम भिन्न प्रकार से करता है। क्रोचे के अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं—एक अन्वीक्षा-प्रसूत सामान्यावलम्बी और दूसरा कल्पना-प्रसूत विशेषावलम्बी। कल्पना-प्रसूत

ज्ञान से ही प्रकाश-भंगी उत्पन्न होती है। यह प्रकाश-भंगी ही सौन्दर्य का उत्पादक है। हमें अपने अन्वीक्षा-प्रसूत ज्ञान से जिस वस्तु के रूपादि का बोध होता है, वह हमारे अन्तर्मन में कल्पना की सहायता से संशोधित, परिवर्तित तथा परिवर्द्धित रूप मे प्रतीयमान होती है। वस्तु का कल्पना मे भासित रूप ही सुन्दर कहलाता है। इस प्रकार सौन्दर्य कल्पना-मूलक अन्त व्यापार है (सौन्दर्य तत्व, पृ० २१)। इसके विपरीत कुन्तक रमणीयता को वस्तु-निष्ठ मानते है। वक्रोक्ति का सौन्दर्य अन्वीक्षा-प्रसूत सामान्यावली ज्ञान है। वह शब्द, वर्ण, अप्रस्तुत-योजना, विषय-वस्तु, प्रबन्ध-योजना आदि से प्राप्त होता है। इसके सृजन मे कवि को प्राप्त अनुभूति अध्येता तद्वत प्राप्त करता है, किन्तु कल्पना मे प्रतीयमान वस्तु के संशोधित रूप का आनन्द दूसरा कैसे प्राप्त कर सकता है? इस प्रकार अभिव्यंजना में कर्ता के कर्तृत्व को स्थान ही नही है। इधर वक्रोक्ति से प्राप्त आनन्द पूर्णतया कर्ता के कर्तृत्व-भाव का ही होता है।

चारुता और विदग्धता, वक्रोक्ति के दो रूप हैं। चमत्कार को विदग्धता का गुण माना जा सकता है। वैसे चारुता में भी चमत्कार दिखाई पड़ता है किन्तु विदग्धता से इसका सान्निध्य अधिक है। किसी उक्ति अथवा वस्तु मे जब ग्रहीता लोक-सामान्य से विचक्षणता सुनता या देखता है तो उसके मानस मे एक कौंध सी उठती है, जिसे चमत्कार कहते है। यह चमत्कार सौन्दर्य का विधायक है। चमत्कार मात्र बौद्धिक नही है। इसकी भावात्मक स्थिति भी होती है। रस-दशा के उद्‌बोधन मे चमत्कार सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त अधिकांश स्थलो पर काव्यकर्ता भाव-प्रेरित होकर ही चमत्कार का विधान करता है। उदाहरण स्वरूप चमत्कार उद्‌बोधक वर्ण-विन्यास-वक्रता के प्रकार भाव प्रेरित भी होते हैं। कुछ अन्तराल से एक-दो या बहुत से व्यजनों की आवृत्ति, सानुनासिक वर्ण संयुक्त 'क' से 'म' तक के वर्ण, सयुक्त 'त' 'म' 'न' आदि, बिना अन्तराल के एक ही वर्ण की आवृत्ति, एक या अनेक व्यंजनो की व्यवहित अथवा अव्यवहित आवृत्ति आदि की योजना कवि भाव-प्रेरित होकर ही करता है। इसी प्रकार वे रसदशा के आयोजन मे सहायक सिद्ध होते हैं। विषय-वस्तु की रमणीयता के अभाव में तो भावात्मक स्थिति की कल्पना ही असम्भव है। अप्रस्तुत-विधान को भी रसवादियों ने रस का ही अंग घोषित किया है। जिस अप्रस्तुत-योजना मे बुद्धि-विलास मात्र होगा, उसमें भावावेग का अभाव होगा, पर जहाँ कवि भाव-प्रेरित होकर अप्रस्तुत-योजना करता है, वह स्थल रसदशा के आयोजन में सक्षम होगा। प्रबन्ध-

कल्पना तो भावावेग के अभाव मे हो ही नहीं सकती है। इस प्रकार वक्रोक्ति और उसके गुण चमत्कार का काव्य से अनित्य सम्बन्ध है।

## सौन्दर्य और आनन्द

'आनन्द' शब्द अध्यात्म-जगत का है। मन की ऐसी प्रशान्त स्थिति जिसमे अलौकिक सुख की अनुभूति हो, आनन्द की अवस्था कहलाती है। आनन्दावस्था में आश्रय का लौकिक पदार्थों से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। मन का जब तक लौकिक पदार्थों से सम्बन्ध बना रहेगा, तब तक आनन्द की सच्ची उपलब्धि नहीं हो सकती। वैसे मन पदार्थों के माध्यम से ही आनन्दावस्था तक पहुँचता है, किन्तु उस अवस्था मे मन के स्थिर हो जाने पर वे स्वयमेव पीछे छूट जाते है। यही एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या आनन्दावस्था एक शून्य की अवस्था है ? क्या आनन्द की अनुभूति एक ऐसी निरपेक्ष अनुभूति है, जहाँ उस अनुभूति के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नही रहती है ? क्या नितान्त एकान्तावस्था में आनन्द की अनुभूति होती है ? जहाँ तक आध्यात्मिक-जगत के आनन्द का प्रश्न है, उसे नितान्त एकान्तावस्था की अनुभूति कहा जायेगा। मूर्ति की पूजा उपासनादि अनेक साधनो के माध्यम से भक्त आनन्द की ओर उन्मुख होता है, किन्तु उस अनुभूति की प्राप्ति में उपासक और उपास्य का द्वैत-भाव समाप्त हो जाता है। उपासक अपने व्यक्तित्व को उपास्य में 'लय' समझता है। इस तद्गत अनुभूति से भी किंचित उठी हुई अवस्था आनन्द की होती है। ठीक यही अवस्था साधक की भी होती है। योगासन आदि अनेक साधनों से साधक चित्त को एकाग्र करता है। चित्त की एकाग्रता मे साधक अपनी स्थिति को साध्य से अपृथक् समझता है। साधक के व्यक्तित्व का साध्य में लय हो जाने के पश्चात् आनन्द का स्फोट होता है। इस प्रकार अध्यात्म-क्षेत्र मे आनन्दानुभूति को नितान्त एकान्तावस्था की अनुभूति कहा जायेगा। वहाँ तो उपासक-उपास्य, साधक-साध्य, ज्ञाता-ज्ञेय कुछ भी नही रह जाते। यदि रह जाती है तो मात्र अनुभूति और उसकी भी प्रतीति अनुभव के समय आश्रय को नही होती है। किन्तु काव्य अथवा कला से प्राप्त आनन्द की अवस्था इससे किंचित भिन्न होती है। आश्रय को काव्य अथवा कला से भाव ग्रहण करते समय आलम्बन की प्रतीति बराबर बनी रहती है। कुछ लोग काव्य से प्राप्त आनन्द को नितान्त एकान्तावस्था की अनुभूति मानते है, किन्तु काव्यानन्द का स्फोट एकान्त मे नहीं होता। काव्य अथवा कला से आनन्द ग्रहण करते समय आश्रय

को आलम्बन की प्रतीति बराबर बनी रहती है। भावक के मन से आलम्बन के हटते ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। काव्यानन्द को अध्यात्म-जगत के आनन्द का ठीक प्रतिरूप कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। अध्यात्म-जगत में लोक से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, काव्य-जगत मे उसकी प्रतीति बराबर बनी रहती है। काव्य में अनेक व्यक्तित्वों का एक बिन्दु पर मिलन ही समात्मभाव कहा जाता है। तद्गत अनुभूति ही एकात्मभाव है। तद्गत अनुभूति का तात्पर्य है अपने व्यक्तित्व को दूसरे के व्यक्तित्व मे लय करना। यह लय की अवस्था जितनी तीव्र होगी, आनन्दानुभूति की तीव्रता भी उतनी ही अधिक होगी। यदि आलम्बन का व्यक्तित्व अनुभूति के समय आश्रय के मन से हट जाये तो एकाग्रता की अवस्था ही समाप्त हो जायेगी। ऐसी दशा में यह मानना ही उचित होगा कि अनेक व्यक्तियो का एक बिन्दु पर मिलन ही समात्मभाव कहलाता है। समात्मभाव के मिलन के कारण सौन्दर्य का स्फोट होता है। इस प्रकार कैवल्य और काव्यानन्द दोनों पर्याय नहीं, प्रत्युत इनमें तात्विक भेद है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यानन्द की दो अवस्थायें बताई हैं—एक साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष और दूसरी सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष। कुछ कवि आनन्द के सिद्ध-पक्ष मे प्रकट माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार को अपने काव्य का वर्ण्य-विषय बनाते हैं और अन्य कवि प्रत्यन-पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय आदि के दमन को लेकर चलते है। पहले प्रकार के कवि आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष के हैं और दूसरे साधनावस्था अथवा आनन्द के प्रत्यक्ष-पक्ष के हैं (रस मीमांसा पृ० ५४)। शुक्ल जी के अनुसार पूर्ण कवि वे ही है जो आनन्द की साधना और सिद्धावस्था दोनों को चित्रित करते हैं। ये जगत के नाना रूपों मे प्रसरित सुख, सौन्दर्य, माधुर्य आदि को जिस उत्साह से काव्य-विषय बनाते हैं, ठीक उसी उत्साह से अत्याचार, अन्याय आदि के दमन मे प्रदर्शित रौद्र, जुगुप्सा आदि को भी। इसके विपरित कुछ कवि आनन्द की साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष की ओर ही आकृष्ट होते है। सिद्धावस्था अथवा उपभोग पक्ष की ओर उनका ध्यान नही जाता। गोस्वामी तुलसीदास का झुकाव आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनो ओर रहा है, जबकि महात्मा सूरदास का ध्यान आनन्द के उपभोग पक्ष पर ही टिका है। आधुनिक कवियों मे अधिकाश आनन्द की सिद्धावस्था अथवा उपभोग-पक्ष के ही कवि हैं। शुक्ल जी का यह विभाजन काव्यगत आनन्द को दो श्रेणियों

मे विभक्त कर देता है ।

उपनिषदकारो ने ब्रह्म की व्याख्या करते हुए उसे आनन्दमय बताया है । 'तैत्तरीयोपनिषद' मे भृगु अपने पिता वरुण से ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा प्रकट करते है । वरुण उन्हे तप से ब्रह्म को जानने के लिए कहते है । भृगु ने तप करने पर पहले जाना कि अन्न ही ब्रह्म है । कुछ और तप करने पर जाना कि प्राण ही ब्रह्म है । इसी प्रकार उन्होने क्रमशः मन और विज्ञान को ब्रह्म समझा । अन्त मे उन्हें यह ज्ञात हुआ कि आनन्द ही ब्रह्म है । 'विज्ञान-मय जीवात्मा से भिन्न उसके भी भीतर रहने वाली आत्मा आनन्दमय परमात्मा है' ( तैत्तरीयोपनिषद, पंचम अनुवाक ) । इस प्रकार ब्रह्म को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय समझा गया । बाद मे इन्हे ब्रह्म का कोष बताकर उसे इनसे भी परे कहा गया । कुछ वेदान्तियो ने आनन्दमय का अर्थ किया कि ब्रह्म आनन्द से बना हुआ है । किन्तु शाकर अद्वैतवादी आनन्दमय का अर्थ करते है 'आनन्द प्रचुर' । ब्रह्म में आनन्द की अधिकता है न कि ब्रह्म आनन्द से बना हुआ है । शांकर अद्वैतवादी ब्रह्म की अनुभूति मे आनन्द की स्थिति मानते है, किन्तु स्वयं उसकी स्थिति को आनन्द से भी परे समझते है । अन्न, प्राण, मन और विज्ञान जैसे ब्रह्म के कोष है, ठीक वैसे ही आनन्द भी ब्रह्म कोष है । वह इन कोषो के अन्दर विद्यमान है, न कि इन कोषों में से कोई एक है । वेदान्तियो की इस ब्रह्म विषयक परिभाषा में आनन्द को ब्रह्म का रस अथवा उसका पर्याय माना गया । इस प्रकार उपनिषदकारों के ब्रह्म-विवेचन मे ब्रह्म प्रधान है । आनन्द ब्रह्म का अनुवर्ती अथवा उसका आधार है, किन्तु आलकारिको ने काव्य मे आनन्द को ही प्रधान माना । काव्य में आनन्द के परे और कुछ भी नही है ।

आनन्द के समानार्थी सुख और रस दो ऐसे शब्द हैं जिनका आनन्द से पार्थक्य समझ लेना चाहिए । सामान्यतया लोग सुख को ही आनन्द समझ लेते है, किन्तु वेदान्तियों के मत से सुख सातिशय सुख है और आनन्द निरतिशय सुख है (तैत्तरीयोपनिषद, सप्तम अनुवाक) । सुख की अनुभूति सापेक्ष अनुभूति है और आनन्द की निरपेक्ष । सुख अपनी लौकिक सीमाओं के कारण लौकिक और असीम है, जबकि आनन्द अलौकिक और असीम है । परिवर्तन सुख का धर्म है और स्थिरता आनन्द का । सुख में स्थायित्व नहीं, किन्तु आनन्द मे स्थिरता है । सुख की अनुभूति इन्द्रियों द्वारा होती है, किन्तु आनन्द की अनुभूति अतीन्द्रिय है । सुखानुभूति में इन्द्रियाँ उद्वेलित होती रहती हैं, और

आनन्दानुभूति की अवस्था प्रशान्तावस्था है। आनन्द में स्थिर होकर मन उद्वेगकर कम्पनों से हीन हो जाता है। सुख के समान रस भी आनन्द से अभिन्न नहीं। उपनिषदकार के शब्दों में परमात्मा ही रस है, क्योंकि यह जीवात्मा उस रसमय ब्रह्म को पाकर आनन्दयुक्त होता है। ब्रह्म रसमय है। इसके पूर्व उसे आनन्दमय भी कहा गया है। इसलिए लोगों ने आनन्द और रस को अभिन्न मान लिया है। रस आस्वाद है और आनन्द उस आस्वाद की अनुभूति है। रस उपाधि-भेद से नौ मान लिए गए हैं, किन्तु आनन्द की स्थिति अविभाज्य है। रस-दशा की तीव्रता आरोह-अवरोह की ओर उठती-गिरती रहती है पर आनन्दावस्था एक-रस रहती है। आनन्दावस्था की तीव्रता यदि आरोह-अवरोहोन्मुखी हो जाए तो उसकी स्थिति ही समाप्त हो जायेगी। किसी वस्तु का आस्वाद देर तक चल सकता है, परन्तु उस आस्वाद की सुखात्मक अनुभूति की अवस्था आस्वाद की अपेक्षा कम समय तक चलेगी। ठीक इसी प्रकार से रस-दशा आनन्दावस्था की अपेक्षा विलम्ब तक विद्यमान रहने वाली अवस्था है। रस कारण है और आनन्द कार्य। रस दशा के कारण आनन्द का स्फोट होता है। काव्य मे आनन्दावस्था रस दशा के कारण आर्द्र होती है, परन्तु अध्यात्म-जगत का आनन्द आलंबन-विहीन होने के कारण कुछ शुष्क होता है। इस प्रकार रस और काव्यगत आनन्द अभिन्न नही हैं।

आनन्द का सौन्दर्य से अति निकट का सम्बन्ध है। काव्यगत आनन्द और सौन्दर्य में आधार-आधेय का सम्बन्ध है। अध्यात्म में आनन्द की स्थिति शून्यवत होती है, पर काव्यगत आनन्द मे सुन्दर वस्तु की प्रतीति बराबर बनी रहती है। सुन्दर वस्तु के रूप तथा द्रष्टा के व्यक्तित्व का एक बिन्दु पर मिलन होने के पश्चात् ही समात्मभाव का उदय होता है। यह समात्मभाव ही काव्यगत आनन्द का स्फोटक कहा जा सकता है। सुन्दर वस्तु के व्यक्तित्व से द्रष्टा अपने रूप का जितना अधिक अभेद स्थापित करेगा, उतनी ही उसकी आनन्दानुभूति मे तीव्रता उत्पन्न होगी। सुन्दर वस्तु के प्रत्यक्ष रूप से समात्मभाव स्थापित कर द्रष्टा को आनन्द की जैसी अनुभूति होती है, उससे कम कल्पना में प्रतीयमान उसके रूप से नही होती। काव्य-कर्ता द्वारा अनुभूत सौन्दर्य अध्येता के मानस में प्रगट होकर आनन्द का स्फोट करता है। आनन्द एक अनुभूति है और सौन्दर्य भी एकांत में अनुभूति ही है। इसलिए कभी-कभी प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु के रूप की अपेक्षा उसके कल्पित रूप से अधिक आनन्द प्राप्त होता है। प्रकृति का

मानवीकरण, अमूर्त पदार्थों का मूर्तीकरण, अतिशयोक्ति आदि में प्रदर्शित कल्पना-वैचित्र्य का उद्‌गम-स्रोत वस्तु के कल्पित रूप से प्राप्त आनन्द है। कूट पदों की रचना का रहस्य भी यही है। एक ऐसे बाग की कल्पना करना जिसमें दो कमलों पर श्रेष्ठ गज क्रीड़ा कर रहा हो, सिंह गज के प्रति प्रेम प्रदर्शित कर रहा हो, सिंह के ऊपर सरोवर हो, सरोवर पर गिरि, गिरि पर कमल-पराग हों और उन पर कपोत बसता हो। फिर क्रमशः कपोत, अमृत फल, पुष्प, पल्लव, शुक, पिक, मृग, काग, खजन, धनुष, चंद्रमा तथा मणि-धर नाग एक के ऊपर एक हों—कल्पना-वैचित्र्य से प्रेरित होकर ही यह योजना की गई है (सूरसागर, पद २७२८)। इस प्रकार वस्तुस्थिति से विपरीत स्थिति अथवा वस्तु की कल्पना करके उससे आनन्द की प्राप्ति के लिए सुन्दर वस्तु का होना अनिवार्य है। काव्य और कला में सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द की ही अपेक्षा की जा सकती है। सुन्दर और आनन्द के अतिरिक्त काव्य में अन्य किसी स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

## कल्पना और सौन्दर्यानुभूति

'कल्पना' शब्द का निर्माण 'क्लृप' धातु से हुआ है। 'क्लृप' का अर्थ होता है 'निर्माण करना'। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियो ने 'कल्पना' को 'प्रतिभा' कहा है। प्रतिभा के अभाव मे काव्य का निर्माण असम्भव है। भट्ट तोत ने प्रतिभा को नवीन अर्थों तथा भावो का सृजन करने वाली बुद्धि कहा है—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता'। काव्य में नवीन शब्दो और अर्थों का सन्निवेश कवि प्रतिभा के सहारे करता है। पाठक और कवि दोनों सहृदय होते हैं। दोनो एक ही भावभूमि में निवास करते हैं, परन्तु दोनों में यह अन्तर है कि जहाँ कवि अपनी कल्पना के सहारे लोक-सामान्य की भूमि से ऊपर उठ जाता है, वहाँ सहृदय कवि की प्रतिभा अथवा कल्पना का सहारा लेकर उस भाव-भूमि तक पहुँचता है। बौद्धो ने इसे 'मानस प्रत्यक्ष' कहा है। कल्पना एक प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है। यह बुद्धि, निर्माण-योजना, संकल्प आदि की पूर्व-स्थिति मे रहती है। सकल्पादि से यह स्वतत्र है। यह न दिव्य-दृष्टि है और न मनगढ़न्त दूर की उड़ान। काव्य का निर्माण करते समय निर्माता कल्पना के ही सहारे घटनानुकूल शब्द एवं अर्थ के संघटन मे सक्षम होता है। काव्यकर्ता को प्रेरणा तो प्रत्यक्ष जगत से ही प्राप्त होती है, किन्तु उनका संचय और संघटन वह कल्पना अथवा प्रतिभा के सहारे करता है।

आई० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना के पाँच प्रचलित अर्थ बताये हैं—प्रत्यक्ष

दृश्यमान बिम्बों की (मानस मे) उपज, आलंकारिक भाषा का सहज उपयोग, दूसरे की मनोदशा और विशेष रूप से भावजगत को सहानुभूति पूर्वक पुनर्जाग्रत करना, सामान्य रूप से दो भिन्न तत्वों को निकट लाना एव सामान्य रूप से भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं को उचित रूप से सम्बद्ध करना—कल्पना शब्द के ये पाँच अर्थ बताने के बाद रिचर्ड्स 'कल्पना-बोध' ( Sense of Imagination ) की चर्चा करता है। वर्ड्सवर्थ की एक कविता सुनने के पश्चात् कोलरिज को 'कल्पना शक्ति' की प्रतीति हुई। कल्पना की व्याख्या करते हुए कोलरिज ने उसे ऐसी ऐक्य विधायिनी एव ऐन्द्रजालिक शक्ति कहा है जो दो विपरीत तथा कर्कश वस्तुओं मे भी संतुलन स्थापित करती है। कल्पना पुरानी तथा परिचित वस्तुओ मे नवीनता एवं ताजगी का बोध कराती है। कोलरिज ने इसे संगीतात्मक आनन्द का बोध कहा है। कल्पना, वैविध्य का विघटन कर एकात्मक प्रभाव स्थापित करती है। विचारो की अवली का वह सुधार किसी प्रबल विचार अथवा भावना से करती है (Principles of Literary Criticism P. 242)। कोलरिज ने कल्पना को स्वतः सुन्दर और सौन्दर्य की निर्मात्री भी कहा है। वह कल्पना को ऐसी मानसिक शक्ति मानता है जिसके द्वारा बिम्बो का निर्माण एवं विधान होता है। हिन्दी की 'कल्पना' का अंग्रेजी पर्याय 'इमेजिनेशन' ( Imagination ); 'इमेज' ( Image ) शब्द से बना है। 'इमेज' का अर्थ बिम्ब होता है। बिम्ब-विधान के लिए यह आवश्यक होता है कि वस्तुओ के रूप एव परिस्थिति का ब्योरा सविस्तार ठीक-ठीक दिया जाय। इसलिए बिम्ब-विधान मे विभाव का सर्वोपरि महत्व होता है। इसका सजीव संगठन कवि कल्पना के ही बल पर करता है (चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ २)। काव्य मे अप्रस्तुत-योजना का भी अत्यधिक महत्व है। अप्रस्तुत का संचय चमत्कारोत्पादन के लिए ही नहीं अपितु प्रस्तुत के प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए होता है। दैनन्दिन जीवन में साथ रहने वाले प्रकृति के नाना रूपों की मार्मिकता से मानव परिचित रहता है। इनके आयोजन से प्रस्तुत वस्तु की मार्मिकता उसके लिए अधिक बढ़ जाती है। जिस कवि मे कल्पना-विधायिनी शक्ति जितनी ही तीव्र होगी, वह कवि अप्रस्तुत-विधान उतनी ही सफलता से करेगा। इसी से एक प्राचीन आलंकारिक ने कल्पना को अविद्यमान पदार्थ एवं अन्यत्र प्रतिभाषित रूप का आरोप करने वाला मानस व्यापार कहा है।

कोलरिज ने कल्पना को ललित कल्पना और कल्पना दो रूपो में विभक्त

ष्या है। ललित कल्पना स्थिरता पूर्वक कार्य करती है। इसमें आये हुए बिम्ब स्थिर और निश्चित होते हुए भी विशृङ्खलित होते है। ललित कल्पना मे कल्पना, तर्क और विवेक को छोड़ देती है। वह ऐसे बिम्बो का संघटन करने लगती है जिसमे हृदयस्पर्शिता कम और दूर की अव्यवस्थित कौड़ियाँ एकत्र करने की चेष्टा अधिक होती है। ललित कल्पना द्वारा स्थिर गये किये बिम्बों को 'ऊहा' कहते है। विरहाग्नि के कारण 'पूस की रात मे भी गीले वस्त्रों का ओट कर नायिका के निकट जाना', 'आँसुओ का छाती पर पड़ छनछना कर छिप जाना', 'गुलाब जल का सीने पर पहुँचने के पूर्व ही विरहाग्नि के कारण समाप्त हो जाना' जैसी ऊहात्मक उक्तियाँ ललित कल्पना का ही आश्रय लेकर लिखी जाती है। ऐसी उक्तियो में तर्क और विवेक शेष नही रह जाता। इसके विपरीत कल्पना द्वारा संकलित बिम्बो मे एक-सूत्रता होती है। एक के बाद दूसरे बिम्ब संश्लिष्ट रूप मे सामने से गुजरते जाते हैं। कलाकार अपनी कल्पना से नाना बिम्बों को एक ही भावसूत्र में सँजोता है। बिम्बो का संघटन करते समय उसका तर्क और विवेक उसे संश्लिष्ट बनाने मे सहायक होता है। कल्पना दो परस्पर विरोधी वस्तुओं मे संतुलन स्थापित करती है। पुरानी वस्तुओं मे भी नवीनता एवं ताजगी भरती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कल्पना में संगीत के आह्लाद का बोध होता है। यह अनेकता को लुप्त कर एकान्विति की स्थापना करती है। ललित कल्पना में बिम्ब विशृङ्खलित ही रहते हैं। इसलिए वहाँ एकोन्मुख प्रभावान्विति के लिए अवकाश होता ही नही। कल्पना की एक अन्य विशेषता जो उसे ललित कल्पना से एकदम ऊपर उठा देती है, वह यह है कि इसमे कोई एक प्रबल विचार या भाव अन्यान्य विचारों अथवा भावों की लड़ी को अनुशासित कर शुद्ध बना देता है।

डा० नगेन्द्र कल्पना को काव्य का अपरिहार्य तत्व मानते हुए उसे स्वप्नावस्था के समकक्ष बताते हैं—'अचेतन दशा मे जो स्वप्नावस्था है, वही चेतन दशा में कल्पना अवस्था समझनी चाहिए।' कल्पना को स्वप्नावस्था के समकक्ष मानने वालो के अनुसार जैसे अन्तःसंज्ञा में निहित वासनाओ की तृप्ति स्वप्नावस्था में होती है, ठीक उसी प्रकार जगत में प्रतिभासित रूप, माधुर्य, सुषमा, दीप्ति, आनन्द आदि से तृप्त न होकर कवि कल्पना के सहारे काव्य मे उनका आयोजन करता है। वह सुखावह और दुखावह दोनो प्रकार के मनोभावो को मनोनुकूल काव्य मे ढाल लेता है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसे विचारों का प्रतिवाद बहुत पहले ही किया था। स्वप्नावस्था और कल्पनावस्था दोनो में समानता मात्र इतनी ही है कि दोनो अवस्थाओ में जिन रूपो की प्रतीति होती

हे, वे रूप बाह्य इन्द्रियो के सामने नही होते । दोनो अन्तर्मन के बोध के विषय है, किन्तु इनमे सबसे बडा भेद तो यह है कि स्वप्नावस्था मे वस्तु की जैसी प्रतीति होती है ठीक वैसी ही कल्पना-बोध मे नही होती है । स्वप्नवस्था की प्रतीति बहुत कुछ यथार्थ सी होती है, जब कि कल्पना-बोध स्मृति के सहारे बिम्बो का संकलन करना है । स्वप्नावस्था मे प्रतीयमान बिम्ब बिखरे होते है । एक के पश्चात् आने वाले दूसरे बिम्ब को परस्पर आबद्ध करने के लिए कोई अन्तर्वर्तिनी धारा नही होती, पर कल्पना द्वारा आयोजित बिम्ब संश्लिष्ट होते है । कल्पनावस्था में सम्पूर्ण अन्तर्जगत एक प्रबल भाव अथवा विचार से परिचालित रहता है । इससे आयोजित बिम्बों का अन्तर्विरोध स्वयमेव समाप्त हो जाता है । ये उसी प्रबल भाव या विचार के कारण एक अनुक्रम मे बँधे दिखाई पडते है । सबसे बडी बात तो यह है कि कल्पना स्वप्न के समान अंत. संज्ञा मे निहित अतृप्त वासनाओ की तृप्ति मात्र नही है । महात्मा सूरदास ने कृष्ण और राधिका के मनोरम रूप एवं सुखद लीलाभाव की जो कल्पना की है, वह अतृप्त वासनाओं की तृप्ति कथमपि नही हो सकती । स्वप्न मे प्रतीयमान बिम्बो मे इतनी शक्ति ही नही होती कि वे श्रोता में ठीक वैसी ही अनुभूति जाग्रत कर सकें । काव्य का अध्येता, कवि द्वारा आयोजित बिम्बो से निर्माता द्वारा अनुभूत अनुभूतियो की प्राप्ति सहज ही कर लेता है । इसके विपरीत स्वप्नावस्था में उभरे बिम्व स्वप्नावस्था के ठीक बाद ही उसी व्यक्ति को वैसी अनुभूति नही प्रदान कर पाते । सुना जाता है कि कोलरिज एक स्वप्न ('कुबला खाँ') को काव्यबद्ध कर रहा था कि किसी मित्र के आ जाने से भावधारा विच्छिन्न हो गई । फिर लाख चेष्टा करने पर भी कविता आगे न बढ़ सकी, अधूरी ही रह गई । यदि स्वप्न और कल्पना की स्थितियाँ एक ही होती तो सम्भवत: कविता अपूर्ण न रह जाती । स्वप्नावस्था में उसे जिन बिम्बों की प्रतीति हुई थी, कवि उन्हें सुव्यवस्थित कर देता । वस्तुत: उस कविता मे कोलरिज बिम्ब-विधान स्वप्नावस्था के सहारे नही अपितु जाग्रत-अवस्था में संकलित स्मृति के सहारे कर रहा था । यही कारण है कि बीच में व्यवधान उपस्थित हो जाने से वह भावधारा और स्मृति की लड़ी जो बिम्बों का संकलन कर रही थी, विच्छिन्न हो गई । इसके अतिरिक्त मानव के जो दुखात्मक आवेग होते हैं, वे स्वप्नावस्था में दुखात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, इसके विपरीत काव्य के अन्तर्गत उनका भी पर्यवसान आनन्द मे होता है । भय, दुख, जुगुप्सा आदि मनोभाव काव्य मे आनन्द-प्रद ही होते है ।

बिम्ब-विधान, अप्रस्तुत-योजना, प्रबन्ध-योजना के अतिरिक्त लाक्षणिक

था प्रतीकात्मक शब्दों का चयन भी कल्पना के ही द्वारा होता है . लक्षणा ; बात सीधे-सीधे नही कही जाती । अभिव्यक्ति-पद्धति किंचित वक्र हो जाती है। भाषा भावानुगामिनी हो जाती है। प्रतीकात्मक भाषा मे भी कल्पना सहायक होती है। दुख और निराशा के लिए रात्रि, आशा के लिए प्रभात, सुख के लिए चाँदनी जैसे शब्दो का उपयोग प्रतीक-विधान कहलाता है। रात्रि के अन्धकार और दुख के निराशाभाव, उषा की अरुणिमा तथा मन के आह्लाद—इनकी समानुरूपता से प्रेरित होकर कवि प्रतीकात्मक शब्दो का निर्माण करता है। इससे भाषा में मूर्तीकरण की क्षमता आती है। अमूर्त भावों का मूर्तिकरण एवं प्रतीकात्मक शब्दावली. भाषा की क्षमता के परिचा-यक है। इन सबका आयोजन कवि कल्पना के ही सहारे करता है। वह काव्य के भाव और कला दोनों पक्षों को नियंत्रित करती है। कल्पना काव्य-विधायिनी शक्ति है। उसकी प्रबलता के अनुपात से काव्य-सृजन की क्षमता का उदय होता है। उसके अभाव में काव्य की रचना असम्भव है। इस प्रकार काव्य में जो कुछ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, उन सब की विधायिका कल्पना है। उसके अभाव में काव्यगत सौन्दर्य की सत्ता ही नही है।

● ●

# सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति

प्राय: लोग सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति को पर्याय समझ लेते हैं। सौन्दर्यानुभूति को रस-निष्पत्ति का मूलाधार मानना तो समझ में आता है, किन्तु उससे भी आगे बढ़कर यह कहना कि सौन्दर्यानुभूति के आनन्द से भिन्न रसास्वाद का अर्थ कुछ भी नहीं---युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता है। वैसे आनन्दावस्था अविभाज्य होती है, उसमें स्तर-भेद नहीं किया जा सकता। सौन्दर्यानुभूति एवं रसानुभूति दोनों मे आनन्दावस्था वर्तमान होती है। भेद इतना ही है कि एक मे ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान बना रहता है तथा दूसरे मे द्वैत-स्थिति समाप्त हो जाती है। रसानुभूति की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति का क्षेत्र विस्तृत है। भाव-विभाव-अनुभाव-संचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है, किन्तु काव्य के अन्तर्गत प्राय. प्रत्येक रमणीय स्थल पर यह संयोग नहीं संघटित हो पाता। कही-कही आलम्बन की चेष्टा, अंग विशेष का सौन्दर्य, उक्तिमात्र अथवा ऋतु विशेष के सौन्दर्य का अल्पांश ही चित्रित कर दिया जाता है। इसी प्रकार कही वर्ण-विन्यास अथवा अलंकार-योजना से चित्त मुग्ध हो जाता है। ऐसे स्थलों पर रसानुभूति नहीं होती। अब प्रश्न उठता है कि ऐसे आकर्षक स्थलों पर रसानुभूति नहीं तो और होता क्या है? पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत पहले ही कहा था कि ऐसे भी काव्य होते हैं जो रस के अभाव में भी अच्छे लगते हैं। रस-स्वाद से हीन स्थलों के आकर्षण को अस्वीकार तो किया नहीं जा सकता और इसी को ध्यान मे रखकर पण्डितराज ने कहा था 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' रसास्वाद से हीन स्थलो से चमत्कार का स्फोट होता है। ऐसे स्थलो पर हृदय में स्थायी प्रभाव स्थापित करने की तो क्षमता नहीं होती, पर मुग्ध करने की शक्ति का अभाव नही होता। रस से हीन वे स्थल जहाँ चमत्कार स्फुटित होकर हृदय को मुग्ध करते हैं, सौन्दर्यानुभूति के स्थल कहलाते हैं। ऐसे चमत्कारपूर्ण स्थलो पर वस्तु से दर्शन के ग्रहीता की अन्तःसत्ता तदाकार नहीं होती।

सामाजिकों के अन्त:करण में जिस प्रकार वासना रूप में कुछ स्थायी भाव विद्यमान रहते हैं और इन्हीं स्थायी भावों से साधारणीकृत होने पर उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है, ठीक इसी प्रकार जगत के नाना चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप विश्लिष्ट बिम्ब के रूप में ग्रहीता के अन्त में विद्यमान रहते हैं अन्त में

विद्यमान ये रूप सौन्दर्यानुभूति का सृजन करते हैं। यह अनुभूति ग्रहीता के व्यक्तित्व से घुल-मिल कर एक हो जाती है और फिर उसका व्यक्तित्व जिस कल्पित अथवा चाक्षुष रूप में जितना अधिक एकाकार हो सकेगा, वह उसके लिए उतना ही सुन्दर होगा। वायवीय एवं आन्तरिक अमूर्त रूपों की प्रतीति कल्पना द्वारा होती है। जगत के चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप हमें वायवीय और आन्तरिक रूप की प्रतीति में सहयोग देते है। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने रस निष्पत्ति की चार अवस्थाएँ बताई है। पहली स्थिति में सामाजिक को रंग-मंच, पात्र एवं अपनी स्थिति का स्पष्टतः ज्ञान होता है। दूसरी स्थिति में प्रत्यक्ष बोध तिरोहित होने लगता है। विशेषत्व लुप्त होकर सामान्य अवस्था का बोध होने लगता है। इस दूसरी स्थिति में सामाजिक सामान्य स्थिति में आ जाता है, फिर भी उसका व्यक्तित्व रंग-मंच, पात्र एवं कथा से एकाकार नहीं हो पाता। अद्वैतभाव न होकर द्वैतभाव की स्थिति रहती है। तीसरी अवस्था मे विशेषत्व का लोप हो जाता है। सामाजिक के स्थायी भावों का सम्बन्ध स्वयं उससे तथा विभावादि से विच्छिन्न हो जाता है। अन्तिम स्थिति मे उसके भाव साधारणीकृत हो जाते है और वह रसास्वादन करने लगता है। यह अन्तिम अवस्था ही ग्रहीता की अन्तस्सत्ता की तदाकार परिणति कहीं जाती है। यहाँ ग्रहीता, पात्र एवं काव्यकर्त्ता, तीनों के अन्तःकरण में वासना रूप से विद्यमान स्थायी भाव साधारणीकृत हो जाते हैं। रसस्थिति की प्रथम तथा द्वितीय अवस्था के समकक्ष सौन्दर्यानुभूति की अवस्था होती है। सौन्दर्यानुभव के समय सुन्दर वस्तु ग्रहीता के भाव रूप में परिणत हो जाती है। इतना होते हुए भी प्रमेय तथा प्रमाता में द्वैत स्थिति बराबर वर्तमान रहती है। भावक अपने व्यक्तित्व को वस्तु के सान्निध्य मे लाने का प्रयास करता है। ग्रहीता वस्तु के व्यक्तित्व से एकाकार होन का जो प्रयास करता है, उसी का परिणाम है सौन्दर्यानुभूति। रसानुभूति में अन्तस्सत्ता की जैसी तदाकार परिणति होती है, वैसी अवस्था सौन्दर्यानुभूति में नहीं आ पाती। सौन्दर्यानुभूति में रसानुभूति के समान चित्त की विक्षेपावस्था, निरोधावस्था में परिणत हो जाती है। द्रष्टा एवं दृश्य के व्यक्तित्व का परस्पर लय होने का प्रयास होता है, किन्तु पूर्णतया लय नही हो पाता। द्रष्टा एवं दृश्य की पृथक् प्रतीति के कारण लोग आनन्द को आनुषंगिक अथवा चमत्कार की स्थिति स्वीकार करने लगते हैं। रसानुभूति मधुमती भूमिका मे होती है। मधुमती भूमिक में चित्त को शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक् प्रतीति नहीं होती (साहित्यालोचन, पृ० २०३)। प्रत्यक्ष अथवा निर्वितर्क समापत्ति की

अवस्था मे रसानुभूति होती है। इसके विपरीत सौन्दर्यानुभूति में वस्तु-वस्तु का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता रहता है। वस्तु से वस्तु के पार्थक्यानुभव की अपर प्रत्यक्ष स्थिति में सौन्दर्यानुभूति का उदय होता है। पर-प्रत्यक्ष अथवा निर्वितर्क समापत्ति की अवस्था के कारण रसानुभूति की स्थिति अलौकिक सी प्रतीत होती है तथा अपर प्रत्यक्ष अथवा द्रष्टा-दृश्य के पार्थक्यानुभव के कारण सौन्दर्यानुभूति में ग्रहीता को मात्र मुग्ध करने की शक्ति होती है। सौन्दर्यानुभूति एवं रसानुभूति में आधार-आधेय का सम्बन्ध है। सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति की पूर्वावस्था होने के कारण रसानुभूति के पूर्व सर्वत्र विद्यमान रहती है। सौन्दर्यानुभूति के अभाव मे रसानुभूति असम्भव है। वह ग्रहीता को ऐसी स्थिति मे ले जाकर रख देती है, जहाँ से उसका भाव सहज ही साधारणीकृत होने की अवस्था में हो जाता है। ऐसा होने पर भी यह नहीं है कि जहाँ सौन्दर्यानुभूति हो वहाँ रसानुभूति हो ही। बहुत से ऐसे स्थल होते हैं जो ग्रहीता के चित्त में सौन्दर्य का स्फोट कर उसे मुग्ध कर छोड़ देते है।

सौन्दर्यानुभूति आह्लादक और चित्त को द्रवीभूत करने वाली होती है। उसी प्रकार श्रृंगार अस्थायी भाव रति में भी आह्लादक एवं चित्त को द्रवीभूत करने की शक्ति होती है। इस प्रकार चित्त को आह्लादित और द्रवीभूत करने की शक्ति सौन्दर्यानुभूति एवं श्रृंगार रस दोनों में समान रूप से विद्यमान है। समान-धर्मा होने के कारण कुछ विद्वानों ने अन्य रसों की अपेक्षा श्रृंगार रस को सौन्दर्य के अधिक सन्निकट माना है। श्रृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिका होते हैं। इनसे सहृदय के चित में आह्लाद का प्रस्फुटन होता है। आलम्बन की रूप-सम्पदा एवं शारीरिक चेष्टाएँ रतिभाव को उद्‌बुद्ध करने मे विशेष सहायक होती है। इसी से सौन्दर्य का सीधा सम्बन्ध श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव से जोड़ा गया है। इतना होते हुए भी सौन्दर्य को श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव तक ही सीमित रखना उचित नही प्रतीत होता। श्रृंगार रस के अन्तर्गत उद्दीपन रूप में आने वाले प्रकृति के नाना रूप-युक्त पदार्थ भी चित में आह्लाद उत्पन्न करते हैं। प्रकृति का उपयोग काव्य में रति भाव की सीमा के परे जहाँ कही भी होता है, वह सहृदय के चित में आह्लाद को प्रस्फुटित करती है। साम्य मूलक अलंकारों के उपमान तथा प्रकृति का बिम्बविधान आदि काल से सहृदय के चित्त को आह्लादित करते आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त उत्साह, निर्वेद आदि सुखात्मक भावों के आलम्बन का रूप एवं आंगिक चेष्टाएँ भी

आह्लादक होती है। इतना ही नही शोक, क्रोध, भय, घृणा, विस्मय जैसे भावो की कला में परिणति हो जाने पर उसके आलम्बन का रूप एवं चेष्टाएँ आह्लादजनक हो जाती है। कला अथवा काव्य में प्रयुक्त होकर कोई भाव दुखकर नही रह जाता। सभी भावों की स्थिति सुखावह हो जाती है। कभी-कभी वर्ण-विन्यास-वक्रता शृंगार रस के आलम्बन विभाव से कम आह्लादक नही होती। वर्ण-विन्यास से काव्य मे संगीतात्मकता का सन्निवेश सहज ही हो जाता है। सौन्दर्यानुभूति में चित्त की दो अवस्थाएँ होती है—या तो वह मुग्ध होकर पिघलता है अथवा चमत्कृत होकर दीप्त होता है। इसका वर्णो के ललित एवं परुष स्वभाव से सीधा सम्बन्ध है। वर्णो का ललित एवं परुष रूप चित्त को ठीक उसी आह्लाद की अवस्था में उपस्थित कर देता है जिस अवस्था मे शृंगार का अनुभाव-विभाव ले जाता है। इस प्रकार रति के आलम्बन विभाव से ही सौन्दर्य को सम्बद्ध नही किया जा सकता। काव्य के वे सभी गुण जो अन्तस्सता की तदाकार परिणति न करा कर, उसे आह्लादित करके रह जाते है, सौन्दर्यानुभूति के विषय हैं।

कुछ विचारक सौन्दर्य को कला का बाह्य स्वरूप मात्र सिद्ध करते है। यदि इस मत को मान लिया जाय तो सौन्दर्यानुभूति के लिए काव्य मे बहुत कम स्थान रह जाता है। छन्द-विधान, वर्ण-विन्यास-वक्रता तथा एक सीमा तक अलंकार-योजना तर्क ही सौदर्यानुभूति सिमट कर रह जाती है। दूसरी ओर काव्य में आलम्बन विभाव के रूप एवं चेष्टा मात्र का जहाँ अंकन होता है, उसे किसके अन्तर्गत समाहित किया जाय, यह भी एक बिकट प्रश्न उठता है। इसलिये सौन्दर्यानुभूति वस्तु तक ही सीमित नही है, वह अनुभूति भी है।

● ●

# और अन्त में

सौन्दर्य मन ही नही चित्त को भी आर्द्र करता है। उसे प्रसन्न बनाता है। सौन्दर्यानुभूति का प्रभाव हमारी सम्पूर्ण आन्तरिकता पर पड़ता है। इसलिए अध्यात्मवादी सौन्दर्य को अपरोक्षानुभूति से जोड़ते हैं। इन लोगो ने सुन्दर वस्तु तथा सौन्दर्यानुभूति के आश्रय मे अलग सत्ता सौन्दर्य की मान ली। इनकी दृष्टि में इस जगत से अलग कोई सत्ता है, जो सत्य, शिव और सुन्दर है। भारत के आत्मवादियों ने उस सत्ता में ही सौन्दर्य की सम्पूर्ण कल्पना की। उस को सर्वत्र व्याप्त माना। इसी को सर्वात्मवाद कहा गया। पश्चिम के कुछ विचरकों ने सौन्दर्य की खोज आश्रय अथवा ज्ञाता के मानस मे की। क्रोचे ने स्वयं प्रकाश ज्ञान को ही सौन्दर्यानुभूति मान लिया। वह किसी भी वस्तु के रूप मे सौन्दर्य की कल्पना नही करता है। वस्तु में सौन्दर्य न होकर अभिव्यक्ति में है और अभिव्यक्ति निरन्तर आन्तरिक ही होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल वस्तु मे ही सौन्दर्य की कल्पना करते हैं। सुन्दरता को नैतिकता से भी जोड़ा गया। चूँकि सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल इन्द्रियो से नहीं है। वह आत्मा को आह्लादित करती है। इसलिए सुन्दरता का कार्य मनुष्य को नैतिक भी बनाना है। इसके विपरीत फ्रायड ने सुन्दरता और नैतिकता का कोई तालमेल माना ही नहीं। उसके अनुसार सुन्दरता का कार्य है इन्द्रियों को सुख पहुँचाना। इसके कारण यौन-व्यापार जगता है। मार्क्स ने सौन्दर्य को समाज सापेक्ष माना। उसके अनुसार हमारे सौन्दर्य-बोध को हमारी आर्थिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती है। इस तरह से सौन्दर्य के स्वरूप तथा उसकी अनुभूति के सम्बन्ध मे एक-दूसरे के विपरीत विचार-धारायें है। ये विचार धारायें इतना उलझा देती हैं कि सौन्दर्य के सम्बन्ध मे विचार करने वाला इधर-उधर भटकने लगता है। वैसे सौन्दर्य वस्तु में अवश्य होता है। इसीलिए कुछ वस्तुयें हमे सुन्दर और कुछ कुरूप लगती हैं। इसमें हमारे मन का भी सहयोग होता है। मन से ऊपर एक आत्मचेतस है। सौन्दर्य उसे भी प्रभावित करता है। जिन लोगों ने सौन्दर्य को केवल आश्रय के मन मे माना है, उनके लिए यह विचारणीय है कि क्या कुरूपता भी मन में होती है ? हमें कोई वस्तु कुरूप लगती है तो क्या हम केवल अपने अन्दर के भाव को ही उस वस्तु पर आरोपित करते हैं ? वैसे हमारी रुचि और हमें

किसी वस्तु की ओर अधिक आकृष्ट करते हैं और किसी से अलग करने लगते हैं। लेकिन ऐसा एक सीमा तक ही होता है। सुन्दरता भी वस्तु मे होती है और कुरूपता भी। इन दोनो की प्रतीति में हमारे संस्कारो और रुचि की भी भूमिका एक सीमा तक होती है।

सुन्दरता और औदात्य में अन्तर है। औदात्य मे विस्मय की मात्रा कुछ अधिक होती है और सौन्दर्य में चित्त द्रवीभूत हो जाता है। फिर भी औदात्य में सौन्दर्य की प्रतीति कुछ-न-कुछ होती है। सौन्दर्य के निकट औदात्य की अपेक्षा कोमलता अधिक है। कोमलता चित्त को सचिक्कण बना देती है। यह स्थिति सौन्दर्यानुभूति के भी समय होती है। किन्तु सौन्दर्य जिस प्रकार चित्त को आह्लादित करता है, उस प्रकार से कोमलता नही कर पाती है। सौन्दर्य और आनन्द का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन सौन्दर्य कारण है तो आनन्द कार्य है। सौन्दर्यानुभूति की दशा में चित्त आनन्दित होता है। लेकिन जो लोग आत्मा के अस्तित्व को नही स्वीकार करते है, उनके लिए आनंद की भी स्थिति नही है। ऐसे लोग केवल इद्रिन्यों के सुख को ही मानते है। इनके लिए सौन्दर्यानुभूति इन्द्रियो के लिए सुखद मनोदशा है। आनन्द की अवस्था भौतिक प्रतीतियों से भिन्न केवल आत्मलीन दशा है। आनन्द वैयक्तिता की नितान्त आत्मतल्लीनता वाली दशा है। उसका सामाजिक स्वरूप नही बनता है। इसलिये जो लोग सौन्दर्य की सामाजिक उपयोगिता मानते है, उनके लिए आनन्द एक कल्पित मनोदशा मात्र है। ये लोग सौन्दर्य के द्वारा मिलने वाले इन्द्रिय सुख के अतिरिक्त सौन्दर्य की आर्थिक उपयोगिता भी मानते है। इन लोगों के लिए सुन्दर कही जाने वाली वस्तुओ तथा कलाकृतियों का महत्व केवल उनकी सामाजिक तथा आर्थिक उपयोगिता के कारण है। लेकिन ऐसा विचार सौन्दर्य के प्रमाता को सस्कारित मात्र करता है। किसी वस्तु की आर्थिक और सामाजिक उपयोगिता देखी जा सकती है, किन्तु वस्तु में निहित सौन्दर्य इससे निरपेक्ष होता है। किसी फूल का सौन्दर्य केवल आर्थिक उपयोगिता के कारण ही हमे सुखद नही लगता है। वह हमारे मन को भी सन्तुष्ट करता है। वस्तु से प्राप्त होने वाला आर्थिक लाभ हमारे चित्त को सुख एक सीमा तक ही दे पाता है।

सौन्दर्य का क्षेत्र दो है—मनुष्य तथा प्रकृति। स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य की तलाश प्रकृति में अधिक करते है। कभी-कभी वे मानव सौन्दर्य से कटे हुये दिखाई पडते है। वे जीवन के संघर्षो तथा कटुताओं से पलायन करते हैं। इसलिए जीवन में जो कुछ भी सुन्दर है, उसकी ओर उनकी दृष्टि नही जाती है। एक दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो प्रकृति से एकदम कटे रहते हैं।

.तिकालीन कवियों की यही दशा थी । प्रकृति उनकी शृंगारी मनोवृत्तियों
ो अभिव्यक्ति का साधन मात्र थी । एक बंधी-बंधाई परिपाटी पर प्रकृति का
न लोगो ने रूढ़ प्रयोग किया । आधुनिकता के झोके मे भी प्रकृति विस्मृत हो
ाई है । जीवन की कटुता और संघर्ष ही प्रधान हो गया है । वैसे प्रकृति
और मनुष्य दोनों के सौन्दर्य हमारे आकर्षण के विषय है । मानव मे भी स्त्री
जितनी सुन्दर होती है, उतनी ही प्रकृति भी सुन्दर होती है। इनके रूप, उनकी
चेष्टायें तथा इनकी सज्जा हमारे आकर्षण का विषय है । भारतीय आचार्यों ने
नारी के सौन्दर्य पर विस्तार से विचार किया है। उनके अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य
के अभिव्यञ्जक उपमानों का चुनाव भी प्रकृति से किया । काव्य मे इन दोनों का
उपयोग भरपूर हुआ है । ये सब मानव की सौन्दर्यानुभूति के विषय हैं । इनके
अतिरिक्त काव्य में मानव के सृजन का भी महत्व है । अभिव्यक्ति का प्रथम
साधन भाषा है और भाषा की संरचना में कवि की सौन्दर्य चेतना-सक्रिय होती
है । इसलिए काव्य सृजन का प्रमुख कारण सौन्दर्यानुभूति है । काव्य की सामा-
जिक उपयोगिता है । कथा-साहित्य तो इसी पर आधारित होता है । किन्तु
सृजन के प्रेरक तत्वों में सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा व्यक्ति की सौन्दर्य चेतना
का भी कम महत्त्व नहीं है । अपनी इसी प्रकृति के कारण बिम्ब, अलंकार
तथा भाषा के अनेक उपादानो से रचनाकार अपने साहित्य को सजाता है ।

भारतीय काव्य-शास्त्रियो के सम्पूर्ण चिन्तन के दो आधार है—एक तो
काव्य का बाह्य रूप तथा दूसरा काव्य का आन्तरिक स्वरूप । अलंकार सम्प्र-
दाय तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध काव्य के बाह्य रूप से है । रस
सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय तथा एक सीमा तक गुण सम्प्रदाय काव्य की आन्त-
रिक संरचना और उसके परिणाम का विवेचन करते है । औचित्य सम्प्रदाय
इन दोनो से सम्बन्धित है । भारतीय तत्वचिन्तन का मुख्य आधार आत्मवाद
है । यहाँ के लोगों ने आत्मा पर ही सबसे पहले विचार किया । फिर आत्मा
और परमात्मा के सम्बन्धो की विवेचना की । काव्य के विभिन्न सम्प्रदायों का
भी लक्ष्य काव्य की आत्मा की खोज है । किसी ने अलंकार को काव्य की
आत्मा कहा, किसी ने, रीति को, किसी ने रस को, किसी ने ध्वनि को, किसी
ने वक्रोक्ति को और किसी ने औचित्य को । इनमें रसवादियो ने रसानुभूति की
दशा को ब्रह्मानुभूति के समान आत्मलय की अवस्था माना । भारतीय आचार्यों
ने सौन्दर्य की विवेचना पाश्चात्यों के समान नही की । सौन्दर्यानुभूति में आत्म-
लय नही होता है । यह चमत्कृति की अवस्था है । यह चमत्कार अलंकार
योजना तथा वक्रोक्ति-विधान में पूरी तरह से होता है । रीति का सम्बन्ध तो
संस्कारो से अधिक है । फिर भी इससे हमारी सौन्दर्यानुभूति जगती है । औचित्य

तो सौन्दर्य का सम्पूर्ण विधायक ही है। इसके द्वारा सन्तुलन की वह मात्रा निर्धारित होती है जो सौन्दर्य की उद्भाविका है। रसानुभूति के अन्तर्गत व्यक्तित्व के लय होने से पूर्व चमत्कार का स्फोट होता रहता है। इस चमत्कार से ही काव्य में चारुता और विदग्धता उत्पन्न होती है। चारुता मे चमत्कार थोड़ा कम होता है और विदग्धता में अधिक होता है। चारुता वस्तु से सम्बन्धित होती है और विदग्धता अभिव्यक्ति से।

रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति का बहुत निकट का सम्बन्ध है। सौन्दर्यानुभूति मे वस्तु की आनन्दमय अनुभूति होती है। उस दशा में भावक अथवा ग्रहीता का सुन्दर वस्तु से साथ नहीं छूट पाता है। किन्तु रसानुभूति मे साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण में स्थायीभाव रस रूप में परिणत होते है। यह साधारणीकरण ग्रहीता के चित्त मे विद्यमान भाव का होता है। इस लिए रसानुभूति वस्तु से निरपेक्ष होती है। वह केवल भावदशा है। सौन्दर्यानुभूति में सुन्दर वस्तु और उसके साथ भाव सम्मिलित होता है। ऐसी स्थिति में मैं सौन्दर्यानुभूति को रसानुभूति के पूर्व की अवस्था मानता हूँ। इसके द्वारा रसाभास की समस्या का भी समाधान हो जाता है। जहाँ केवल विभाव, केवल अनुभाव अथवा केवल संचारी भाव होंगे, वहाँ रसानुभूति न होकर सौन्दर्यानुभूति होगी। रसाभास की कुछ स्थितियाँ सौन्दर्यानुभूति की होती हैं। कुल मिलाकर सौन्दर्यानुभूति के द्वारा भारतीय तथा पाश्चात्य कलागत कई समस्याओ का समाधान हो जाता है।

मेरी समझ में काव्य समीक्षा के सभी मानदण्डो का आधार सौन्दर्यानुभूति ही है। भारतीय काव्य सिद्धान्तो की तो मैने चर्चा की ही, पाश्चात्य अनुकृति सिद्धान्त, स्वच्छन्दतावाद, सम्प्रेषणीयता का सिद्धान्त तथा काव्य की सामाजिक उपयोगिता का भी मूल आधार सौन्दर्यानुभूति ही स्थिर होती है। वाल्मीकि तथा कालिदास की कविताओं से लेकर अज्ञेय तथा मुक्तिबोध तक की कविताओ के विश्लेषण का आधार सौन्दर्यानुभूति ही बन सकती है। संवेदनाओं को सम्प्रेषित करने में जितने भी सहायक तत्व है, वे सब सौन्दर्यानुभूति से ही प्रेरित हैं। कविता की आन्तरिकता तथा बाह्य उपकरणों का आधार कविता है। काव्यात्मक भाषा का स्वरूप सौन्दर्यानुभूति से ही निर्धारित होता है। कविता का सामाजिक सन्दर्भ भी युगीन सौन्दर्यबोधसे स्थिर होता है। इसलिये सौन्दर्यानुभूति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सौन्दर्यबोध और संवेदनायें मनुष्य के मन से कभी समाप्त नही हो सकती हैं और जब तक ये है, तब तक कविता भी रहेगी।

● ●

।

ा
ज

ज,
वे,
ान-
। के
ा) ।
ाक्षा,
काश,
दि मे

शम्भु
तथा

## डा० विश्वनाथ प्रसाद

**जन्म** : जौनपुर, उत्तर प्रदेश के एक गाँव में।

**शिक्षा** . उदय प्रताप कालेज वाराणसी तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में।

**सम्प्रति** अध्यक्ष, हिन्दी विभाग तथा अधिष्ठाता कला एवं वाणिज्य सकाय, उदय प्रताप कालेज वाराणसी।

**प्रकाशित पुस्तकें** रोशनी ही नदी की धारा है, आवाज, (काव्य संग्रह)। मध्यकाल के पाँच कवि, पूर्वांचला (पूर्वी उत्तर प्रदेश का जनपदीय साहित्य सर्वेक्षण)। अष्ट छाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति (समीक्षा)। अनेक निबन्ध, कविताएँ एवं समीक्षा, धर्मयुग साप्ताहिक हिन्दुस्तान, अवकाश, कादम्बिनी, रविवार, सारिका आदि में निरन्तर प्रकाशित।

**शीघ्र प्रकाश्य** . आम आदमी की लालटेन, जहँ बस शम्भु भवानि (ललित निबन्ध संग्रह) तथा नवगीत (समीक्षा)।